आलोचनात्मक अध्ययन

# प्रेमचंद

डा॰ रामरतन भटनागर

किताब महल

# प्रेमचंद

रामरतन भटनागर, एम्० ए०, डी० फ़िल०

प्रकाशक
किताब महल • इलाहाबाद

प्रथम संस्करण, १९४४
द्वितीय संस्करण, १९४८

प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए, ज़ीरो रोड, इलाहाबाद ।
मुद्रक—सदलराम जायसवाल, रामप्रिंटिंग प्रेस, कीटगंज, इलाहाबाद ।

# तालिका

# अपनी बात

मई १६४४ में 'प्रेमचंद : एक अध्ययन' का पहला संस्करण
कला था। पुस्तक मेरी अनुपस्थिति में छपी थी—फिर प्रेस
भूतों की कृपा न होना आश्चर्य की बात होती। इस नये
करण में वे सब भूलें सुधार दी गई हैं और जहाँ आवश्यक
झा गया है, यथोचित परिवर्तन और परिवर्द्धन भी कर दिया
है। इन परिवर्तनों और परिवर्द्धनों से प्रेमचन्द के मूल्यांकन
कोई अंतर नहीं पड़ा है, परन्तु ग्रंथ की उपादेयता बढ़ गई है।
प्रेमचन्द आधुनिक भारत के चार-पाँच प्रमुख कथाकारों में से
पिछले ३०-३५ वर्षों की राजनैतिक और सामाजिक हलचलों तथा
सानों-मज़दूरों और शहर के मध्यवित्तों का जैसा सफल चित्रण
होंने किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। आज १२ वर्ष बाद भी
जैसी प्रभावशाली क़लम की बादशाहत दिखलाई नहीं पड़ती।
का साहित्य ही हमारे राष्ट्रीय जीवन का इतिहास बन गया
। आज की पीढ़ी के लिए तो वह अपने युग का अत्यंत स्पष्ट
ण है ही, कल की स्वतंत्र भारत की संतानों को भी उसमें बीते
ों की प्राणदायी प्रेरणा मिलती रहेगी, इसमें संदेह नहीं। इस
कलाकार ने हमें पंद्रह-बीस हजार पृष्ठ दिये हैं और उनमें
ारे जीवन के सारे क्षेत्रों को छू लिया है। इतनी युग-व्यापक

साहित्य-साधना की समीक्षा के लिए भी एक हजार पृष्ठ चाहिये। प्रस्तुत पुस्तक 'रूप रेखा'-मात्र ही बन पाई है।

परंतु इस 'रूपरेखा' से भी प्रेमचन्द के जीवन संघर्ष, उनके कलात्मक विकास और उनके साहित्य के संबंध में बहुत कुछ जाना जा सकेगा। प्रेमचन्द गांधीवादी कम हैं या अधिक, उनकी समाजवादी प्रेरणा का स्रोत क्या है, इत्यादि प्रश्न इसमें न उठाये गये हैं; परंतु शुद्ध साहित्यिक समीक्षा के साथ-साथ प्रेमचन्द के राजनैतिक और सामाजिक प्रगतिशील दृष्टिकोण की चर्चा अनिवार्यत: आ गई है।

—आशा है, इस दूसरे संस्करण में यह पुस्तक पाठकों को और भी अधिक रुचेगी।

सं० २००५, आषाढ़ कृष्ण १
२२ जून, १९४८

रामरतन भटनागर

डा
पि
गई
दि
गये
स्त्री
पूँजी
में
का
फा
पाँ
बज
था
का
कर
कि

१

# प्रेमचन्द

प्रेमचंद का जन्म १६३७ संबत् ( १८८० ई० ) में हुआ। पिता डाकख़ाने के क्लर्क थे, माता मरीज़। एक बड़ी बहन भी थीं। पिता २०) रु० पाते थे। ४०) रु० तक पहुँचते उनकी मृत्यु हो गई। उन्होंने १५ वर्ष की अवस्था में प्रेमचंद का विवाह कर दिया और विवाह करने के साल भर बाद ही परलोक सिधार गये। प्रेमचंद उस समय नवें दर्जे में पढ़ते थे। अब घर में उनकी स्त्री, विमाता और दो सौतेले भाई रह गये। घर में जो कुछ पूँजी थी, वह पिता जी की छः महीने की बीमारी और क्रिया-कर्म में स्वाहा हो चुकी थी। आगे पढ़ने को धुन थी। काशी के क्वीन्स कालिज में पढ़ते थे। फ़ीस माफ़ थी। स्कूल से पढ़कर बाँस के फाटक पर एक लड़के को पढ़ाने जाते और छः बजे छुट्टी पाकर पाँच मील चलकर देहात तक पहुँचते। पहुँचते-पहुँचते आठ बज जाते। प्रातःकाल आठ ही बजे फिर घर से चलना पड़ता था। सैकिंड डिवीज़न में मैट्रिक पास हुए। उसी साल हिन्दू कालिज खुला था। उसमें पढ़ने का निश्चय किया। फ़ीस माफ़ कराने का बड़ा प्रयत्न करने पर भी फ़ीस माफ़ न हुई। परन्तु किसी तरह पढ़ाई जारी रखी। इंटर में कई बार हिसाब में फ़ेल

हुये और अन्त में इम्तहान देना छोड़ दिया। १०-१२ साल के बाद जब हिसाब अख़्तियारी हो गया तो इण्टर पास किया और फिर बी० ए०।

कालिज छोड़ने पर एक वकील के यहाँ ट्यूशन मिल गई थी। 'जीवनसार' नामक आत्म-कहानी में जो १९३३ के हंस आत्मकथांक में छपी है, प्रेमचंद ने उन दिनों का मार्मिक वर्णन किया है। वेतन ५) रु० था। २) रु०-२॥) रु० अपने आप पर ख़र्च करते, दो-ढ़ाई घर दे आते। वकील साहब के अस्तबल में एक कच्ची कोठरी थी, उसी में रहते। एक वक़्त खाना पका लेते। फ़ुर्सत के समय लाइब्रेरी जाकर उपन्यास आदि पढ़ते। वकील साहब के भाई मैट्रिकुलेशन में साथ पढ़े थे, उनसे उधार लेकर काम चलाते और वेतन से कटा देते। एक बार एक दुकान पर एक पुरानी किताब बेचने गये, वहाँ एक सज्जन से भेंट हो गई। एक छोटे-से स्कूल के हेडमास्टर थे। उन्हें सहकारी अध्यापक की ज़रूरत थी। १८) रु० के वेतन पर इन्हें रख लिया। यह १८९९ ई० की बात है। बढ़ते-बढ़ते १९०८ ई० में सब-डिप्टी इंसपेक्टर हो गये और १९२० के असहयोग आन्दोलन तक शिक्षा विभाग में ही काम करते रहे। उन दिनों वे गोरखपुर थे। सारे देश का दौरा करते हुए गांधी जी वहाँ आये। उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर दो ही चार दिन बाद अपनी २० साल की नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया और देहात में जाकर प्रचार और साहित्य-सेवा को अपने जीवन का उद्देश्य बनाया।

प्रेमचंद की पहली रचना एक ड्रामा थी जिसमें उन्होंने अपने मामू साहब के चमारी-प्रेम की खिल्ली उड़ाई थी। "मेरी पहली रचना" में उन्होंने जो लिखा है उससे उनके बचपन के अध्ययन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है—"उस समय मेरी उम्र

कोई १३ साल की रही होगी। हिन्दी बिलकुल न जानता था। उर्दू के उपन्यास पढ़ने का उन्माद था। मौलाना शरर, पं० रतननाथ सरशार, मिर्ज़ा रुसवा, मौलवी मुहम्मद अली (हरदोई-निवासी) उस वक़्त के सर्वप्रिय उपन्यासकार थे। इनकी रचनाएँ जहाँ मिल जाती थीं, स्कूल की याद भूल जाती थी और पुस्तक समाप्त करके ही दम लेता था। उस ज़माने में रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी। उर्दू में उनके अनुवाद धड़ाधड़ निकल रहे थे और हाथों-हाथ बिकते थे। मैं भी उनका आशिक़ था। स्व० हज़रत रियाज़ ने, जो उर्दू के प्रसिद्ध कवि हैं और जिनका हाल में देहांत हुआ है, रेनाल्ड की एक रचना का अनुवाद 'हरमसरा' के नाम से किया था। उसी ज़माने में लखनऊ के साप्ताहिक 'अवधपंच' के सम्पादक स्व० मौलाना सज्जाद हुसैन ने, जो हास्य-रस के अमर कलाकार हैं, रेनाल्ड के एक दूसरे उपन्यास का अनुवाद "धोखा" या 'तिलस्मी फानूस' के नाम से किया था। ये सारी पुस्तकें मैंने उसी ज़माने में पढ़ीं और पं० रतननाथ सरशार से तो मुझे तृप्ति ही नहीं होती थी। उनकी सारी रचनायें मैंने पढ़ डालीं"। "दो-तीन वर्षों में मैंने सैकड़ों ही उपन्यास पढ़ डाले होंगे। जब उपन्यासों का स्टाक समाप्त हो गया, तो मैंने नवलकिशोर प्रेस से निकले हुये पुराणों के उर्दू अनुवाद भी पढ़े। 'तिलिस्म होशरुबा' नामक तिलिस्मी ग्रंथ के १७ भाग उस वक़्त निकल चुके थे और एक-एक भाग बड़े सुन्दर रायल के आकार के दो-दो हज़ार पृष्ठों से कम न होगा। और इन १७ भागों के उपरांत उसी पुस्तक के अलग-अलग प्रसङ्गों पर पच्चीस भाग छप चुके थे। इनमें से भी मैंने कई पढ़े।"

अपने लेखक जीवन के आरम्भ के सम्बन्ध में प्रेमचंद ने इस प्रकार लिखा है—"मैंने पहले पहल १९०७ में गल्पें लिखनी

शुरू की। डाक्टर रवीन्द्रनाथ की कई गल्पें मैंने अंग्रेज़ी में प
थीं और उनका उर्दू अनुवाद उर्दू पत्रिकाओं में छपवाया थ
उपन्यास तो मैंने १९०१ से ही लिखना शुरू किया। मेरा
उपन्यास १९०२ में निकला और दूसरा १९०४ में, लेकिन ग
१९०७ के पहले मैंने एक भी न लिखी। मेरी पहली कहानी
नाम था 'संसार का सबसे अनमोल रत्न'। वह १९००
'ज़माने' में छपी। उसके बाद मैंने चार-पाँच कहानियाँ अ
लिखीं। पाँच कहानियों का संग्रह 'सोज़े वतन' के नाम से १९
में छपा उस समय बंग-भंग का आन्दोलन हो रहा था। काँग्रे
में गर्मदल की सृष्टि हो चुकी थी। इन पाँचों कहानियों में स्वदे
प्रेम की महिमा गाई गई थी।"

( 'जीवनसार' से

इस पुस्तक पर अधिकारियों की दृष्टि गई। पुस्तक छप
के छः महीने बाद उनके नाम ज़िलाधीश का परवाना पहुँच
मिलने पर उन्हें बताया गया कि इन कहानियों में राजद्रोह भ
है। फ़ैसला हुआ कि सारी प्रतियाँ साहब के हवाले हों औ
उनकी अनुमति के बिना कुछ न लिखा जाय। ७०० प्रति
'ज़माने' के कार्यालय से मँगाकर दे दीं। जब पेचिश की बीमा
की वजह से दौरे की नौकरी छोड़ दी तो बस्ती और फि
गोरखपुर पहुँचे। वहाँ महावीरप्रसाद पोद्दार से परिचय हुआ
इन्होंने बस्ती में आकर 'सरस्वती' में कई गल्पें छपवाईं
पोद्दार जी के प्रेरणा से 'सेवासदन' (१९१६) लिखा। इससे
पहले उर्दू में 'हम खुरमा और हम कबाब' (१९०९) लिखा था
वहीं प्राइवेट बी० ए० किया। 'सेवासदन' के आदर से
उत्साहित होकर 'प्रेमाश्रम' (१९२२) लिख डाला और
कहानियाँ भी बराबर लिखते रहे।

परंतु इतने विवरण से ही प्रेमचंद के जीवन और उनकी साहित्यिक साधना पर पूरा पूरा प्रकाश नहीं पड़ता। प्रेमचंद के साहित्य में मध्यवित के कायस्थ घराने की समस्याओं का जो अन्यतम चित्रण है, उसे समझने के लिए उनके जीवन की विशद भूमिका की आवश्यकता पड़ेगी। प्रेमचंद का जन्म मध्यवित्त श्रेणी के एक ग़रीब घर में हुआ। पांडेपुर मौज़े की थोड़ी-सी ज़मीन के सिवा और कोई स्थायी सम्पत्ति नहीं था। इसलिए पिता डाकख़ाने में नौकरी करके काम चलाते थे। परिवार था बड़ा, इसलिए इतने से चलना कठिन था। फलतः प्रेमचंद ग़रीबी में जन्मे और ग़रीबी में उनका लालन-पालन हुआ। सम्मिलित परिवार की सारी कठिनाइयों से वह परिचित थे। अपने बचपन में विषय में लिखते हुए प्रेमचंद लिखते हैं—"अँधरा के पुल का चमरौधा जूता मैंने बहुत दिन तक पहना है। जब तक मेरे पिता जी जीवित रहे, तब तक उन्होंने मेरे लिए बारह आने से ज़्यादा का जूता कभी नहीं ख़रीदा।" आठ वर्ष के थे कि माता चल बसी। प्रेमचंद लिखते हैं—"जब मैं आठ साल का था, तभी मेरी माँ बीमार पड़ी। छः महीने तक वे बीमार रहीं। मैं उनके सिरहाने बैठा पंखा हाँका करता था। मेरे चचेरे भाई जो मुझसे बड़े थे, दवा के प्रबंध में रहते थे। मेरी बहिन सुसराल में थी। उनका गौना भी हो गया था। माँ के सिरहाने एक बोतल शक्कर से भरी रहती थी। माँ के सो जाने पर मैं उसे खा लेता था। माँ के मरने के आठ-दस दिन पहले मेरी बहिन आई। घर से मेरी दादी भी आईं। जब मेरी माँ मरने लगीं, तो मेरा, मेरी बहिन का तथा बड़े भाई का हाथ मेरे पिता के हाथ में देकर बोलीं—ये तीनों बच्चे तुम्हारे हैं। बहिन, पिता तथा बड़े भाई सब रो रहे थे। पर मैं कुछ भी

नहीं समझ रहा था। माँ के मरने के कुछ दिन बाद बहि
अपने घर चली गई। दादी, भैया और पिता जी रह गये
दो-तीन दिन बाद दादी भी बीमार होकर लमही चली गई
मैं, भैया और पिता जी रह गये। भैया दूध में शक्कर डा
कर मुझे खुद पिलाते थे। पर माँ का वह प्यार कहाँ? मैं एका
में बैठ कर खूब रोता था। पाँच-छः महीनों के बाद मेरे पि
भी बीमार पड़े। वे लमही आये। मैं भी आया। मेरा का
मौलवी साहेब के यहाँ पढ़ना, गुल्ली-डंडा खेलना, ईख तो
कर चूसना और मटर की फली तोड़ कर खाना—चलने लगा।
इस प्रकार की ग़रीबी में पलने वाले भावुक बालक के लि
बड़े होकर ग़रीबी का अत्यंत मार्मिक चित्रण आश्चर्य की बा
नहीं है। पिता के मरने के बाद तो उन्हें इकेले इस ग़रीबी
से लड़ना पड़ा और विमाता और भाइयों का बोझ वर्षों उठाना
पड़ा।

पिता जी ने दुबारा विवाह कर लिया। विमाता आई
डाकख़ाने की तबादले की नौकरी। पिता जी बराबर कभी इधर
कभी उधर बदलते रहते। उधर विमाता के कारण घर में नये
संघर्ष शुरू हुए। प्रेमचंद की ज़बान से ही सुनिये—"पिता जी
डाकख़ाने से जो भी चीज़ खाने के लिए लाते, चाची की इच्छा
रहती कि वे खुद खा जायँ। वे उनकी लाई हुई चीज़ों को पिता
के सामने रखतीं तो पिता जी बोलते—'मैं ये चीज़ें बच्चों के लिए
लाता हूँ।' जब चाची न मानतीं तो पिता जी झल्ला कर बाहर
चले जाते।" सौतेली माँ का अनेक प्रकार का अनुभव प्रेमचंद
साहित्य की महत्वपूर्ण सम्पत्ति है। इसका कारण यही है कि
यह उनका अपना निजी अनुभव था, किताबों में पढ़ा-पढ़ाया
नहीं। अनेक कहानियों और 'निर्मला' में उन्होंने सौतेली माँ

के विशद चित्र उपस्थित किये हैं। 'सौतेली माँ' कहानी में तो बहुत-कुछ आत्मकथात्मक है।

प्रेमचंद के अनुभव का एक नया क्षेत्र प्रेम और विवाह है। कई उपन्यासों में उन्होंने प्रेम और विवाह की समस्याओं को उठाया है। वरदान, प्रतिज्ञा, सेवासदन, निर्मला और कायाकल्प (रोमांचक प्रसंग) में उन्होंने आधुनिक नारी-जीवन की अनेक विडंबनाओं का चित्रण किया है। सच तो यह है कि इन सब का संबंध नारी के अधिकारों और प्रेम-विवाह-संबंधी उसके दृष्टिकोण से है। 'वरदान' में अनमेल विवाह, 'प्रतिज्ञा' में विधवाविवाह, 'सेवासदन' में वेश्या, 'निर्मला' में दोहाजू और 'कायाकल्प' में प्रेम, वासना और विवाह की समस्यायें उठाई गई हैं। इन समस्याओं से प्रेमचंद स्वतः परिचित थे। इससे वे इन्हें अपनी अनुभूति का बल देकर उपस्थित कर सके हैं।

प्रेमचंद ने दो विवाह किये और दूसरी पत्नी शिवरानी देवी जब ब्याह कर घर आईं तब वह एक रखेली रखे हुए थे— उनकी पहली पत्नी तो उस समय जीवित थी ही—और कुछ दिनों बाद तक उसे रखे रहे। किस मनोविज्ञान के आश्रित उन्होंने ऐसा किया, यह जानना उपादेय होगा। पहले विवाह के संबंध में वे लिखते हैं—"मेरा विवाह बस्ती ज़िले के मेहदावल तहसील में रामापुर गाँव में ठीक हुआ। वे भी अपने घर के ज़मींदार थे। कुछ पूरब का रीति-रिवाज ऐसा है कि जब मुझे घर में लोगों ने बुलाया तब सैकड़ों स्त्रियाँ घर में थीं। हँसी-मज़ाक़ का बाज़ार गरम था। पुरुषों के नाते तो मैं ही एक था। मुझे हँसी-मज़ाक़ अच्छा भी लगता था। सब मुझसे हँसी-मज़ाक़ करती थीं, मैं अकेला उनसे परेशान था। ख़ैर, किसी तरह उनसे उबरा। फिर मेरी स्त्री की बिदाई का समय आया। कई रोज़ का

अरसा हो गया था। ऊँट-गाड़ी से आना पड़ा। जब हम ऊँट गाड़ी से उतरे तो मेरी स्त्री ने मेरा हाथ पकड़ कर चलना शुरू किया। मैं इसके लिए तैयार नहीं था। मुझे झिझक मालूम हो रही थी। उम्रमें वे मुझसे ज्यादा थीं। जब मैंने उनकी सूरत देखी, तो मेरा ख़ून सूख गया।" इस कुरूप और कर्कशा स्त्री से प्रेमचंद जैसे भावुक-हृदय पति की पटना मुश्किल थी। प्रेमचंद ने इसका हल सोच लिया और उसे ख़ूब निबाहा। वह हल कहाँ तक नैतिक और न्यायोचित है, यह दूसरी बात है। उन्होंने पत्नी को बराबर मायके रखा और उसे खर्च भेजते रहे। जिस हिन्दू समाज में स्त्री-पुरुष के बीच में तलाक़ की कोई व्यवस्था नहीं है। नहीं पटने पर इसके सिवा और चारा ही क्या है? इस अनमेल विवाह ने प्रेमचन्द के मन पर अमिट छाप छोड़ी और उनके उपन्यासों के अनेक पात्र इस दुख से ही दुखी हैं। यौन-समस्या अनेक प्रकार से प्रेमचंद के उपन्यासों में आती है और यद्यपि ऊपर से उसका रूप समाज-सुधार का है, मूल समस्या काम-मनोविज्ञान भी है, इसमें संदेह नहीं। १९०५ ई० में प्रेमचन्द ने शिवरानी नाम की एक बाल-विधवा से विवाह कर लिया। इस समय तक प्रेमचन्द 'प्रेमा' लिख चुके थे जिसमें उन्होंने विधवा-विवाह का समर्थन किया है। इस शादी के सम्बन्ध में लिखती हुई शिवरानी कहती हैं—"मेरी शादी में आपकी चाची वग़ैरह किसी की राय नहीं थी, मगर यह आपकी दिलेरी थी। आप समाज का बंधन तोड़ना चाहते थे। यहाँ तक कि आपने अपने घर वालों को भी ख़बर न दी।" आज से ४०-४२ वर्ष पहले इस तरह विधवा-विवाह करना सचमुच साहस का काम था। यह स्पष्ट है कि प्रेमचंद प्राचीनता के उपासक नहीं थे। यदि होते तो पहली ही पत्नी को

किसी तरह निबाहते। उन्होंने साहस कर अपने को मुक्त कर लिया। समस्या का वैयक्तिक हल यही था। परन्तु उन्होंने अपनी पहली पत्नी की बात शिवरानी देवी से ९ वर्ष तक छिपाई। ऐसा करने की उन्हें क्या आवश्यकता पड़ी। इससे उनकी पारिवारिक जटिलताएँ ही बढ़ी होंगी। फिर इस बीच वे अवैध रीति से भी प्रेम-प्रसंग चला रहे थे। लौंगी के चरित्र में उन्होंने जिस सती-साध्वी रखेली की कल्पना की है, वह स्वयं उनकी अनुभूत धारणा थी, ऐसा संभव है। यह निश्चित है कि वह जीवन-पर्यंत प्रेम और विवाह की समस्या का हल ढूँढ़ते रहे। जान पड़ता है इस समस्या के समाजवादी हल से वे परिचित नहीं थे, अतः उन्होंने कुछ व्यक्तिगत, कुछ आदर्शवादी, कुछ गाँधीवादी ढंग से एक हल सोच लिया। विवाह सामाजिक बंधन मात्र है। वह प्रेम से ऊँचा नहीं है। जहाँ प्रेम है, आत्मा का स्वच्छंद मिलन है, वहाँ भाँवरे पड़ने का प्रश्न ही नहीं रह जाता। सच्चा आत्म-समर्पण ही विवाह है। प्रेम और विवाह के इस द्वैत से उनके अनेक नायक-नायिका परिचित हैं।

यह सब समस्याएँ मध्यवित्त घराने से संबंध रखती हैं। वास्तव में प्रेमचंद अपने वर्ग से पूर्णतः परिचित थे। इस वर्ग का बड़ा सुन्दर चित्रण उनके उपन्यासों में हुआ है। परन्तु 'ग़बन' में तो उन्होंने मध्यवित्त स्त्री-पुरुषों के मनोविज्ञान और उनकी दुर्बलताओं का अभूतपूर्व चित्र उतारा है।

हमने बताया है कि छोटे से प्राइमरी स्कूल की मास्टरी से शुरू करके प्रेमचंद अंत में सब डिपुटी इंस्पेक्टर हो गये। १९०० ई० के लगभग उन्होंने 'कृष्णा' उपन्यास लिखा था जो इंडियन प्रेस ने प्रकाशित किया। १९०२ ई० में 'वरदान' निकला। १९०५ में उनका दूसरा विवाह हुआ और इसी वर्ष उनका दूसरा

उपन्यास 'प्रेमा' निकला। विवाह के एक वर्ष बाद 'सोज़े वतन' नाम से उनकी एक कहानियों का संग्रह 'ज़माना' प्रेस से प्रकाशित हुआ। सरकार की कृपा से इस संग्रह को उन्हें आग की भेंट करना पड़ा। कुछ दिनों बाद उन्होंने दौरे की नौकरी छोड़ दी और बस्ती और फिर गोरखपुर में स्कूल-मास्टर रहे। वहीं उन्होंने अनेक कहानियों और 'सेवासदन' की रचना की। यह रचना १६१६ ई० में प्रकाशित हुई और इसने उन्हें एकदम लोकप्रिय बना दिया। इस उपन्यास में जिस प्रतिभा का उद्घाटन हुआ था उसने साहित्य-रसिकों को चकित कर दिया। इस लोकप्रियता का प्रभाव भी उन पर पड़ा और वह नौकरी छोड़ कर साहित्य-सेवा की कल्पना करने लगे। उन्होंने राष्ट्रीय जीवन को चित्रित करने का भी प्रयत्न किया और 'प्रेमाश्रम' ( १६२२ ) इसी प्रयत्न का परिणाम है। असहयोग आंदोलन के सिलसिले में उन्होंने नौकरी छोड़ दी और देहात में जाकर चरख़ाप्रचार और साहित्य-सेवा का काम शुरू किया। यह सिलसिला बहुत दिनों नहीं चल सका। तब वे लमही ( बनारस ) चले आये। अब लेख और कहानियाँ ही एक मात्र सहारा थीं। अंत में जून १६२१ में श्री गणेशशंकर विद्यार्थी की सिफ़ारिश से वह कानपुर के मारवाड़ी विद्यालय के हेड-मास्टर हो गये। कुछ दिनों बाद इस विद्यालय के अधिकारियों से कुछ झगड़ा हो गया और उन्होंने नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया। वे 'मर्यादा' ( बनारस ) में काम करने लगे और डेढ़ वर्ष वहीं रहे। इसके बाद वे काशी विद्यापीठ के विद्यालय-विभाग के हेडमास्टर हो गये। बाद में उन्होंने यह नौकरी भी छोड़ दी और कुछ दिनों अपने गाँव में जाकर रहे। १६२४ ई० के लगभग वे 'माधुरी' ( लखनऊ ) के संपादन-विभाग में आ

गये और यहीं उन्होंने रंगभूमि (१९२४), निर्मला (१९२७), कायाकल्प (१९२८) और ग़बन (१९३१) की रचना की। इसी बीच में उन्होंने सैकड़ों कहानियाँ भी लिखीं जो 'माधुरी' और अन्य मासिक-पत्रों में प्रकाशित हुईं।

१९३१ में प्रेमचंद लखनऊ छोड़ कर बनारस आ गये। वहाँ उन्होंने एक छोटा-सा प्रेस ख़रीद लिया और 'हंस' (मासिक) और 'जागरण' (साप्ताहिक) नाम के पत्र निकालने लगे। अपने इस प्रेस से उन्होंने केवल अपने दो अंतिम उपन्यास छपवाये—कर्मभूमि (१९३२) और गोदान (१९३६)। कुछ अन्य पुस्तकों का प्रकाशन भी उनके सामने हुआ। पत्रों के कारण उन्हें बड़ा घाटा हुआ और प्रेस चलना कठिन हो गया। फ़िक्र हुई, यह घाटा कैसे पूरा किया जाय। इसी समय बम्बई की एक कम्पनी की ओर से बुलावा आया। ८०००) साल के कन्ट्रेक्ट की बात दी। प्रेस का गरम निवाला न उगला ज़ाता था, न निगला जाता है। इसके सिवाय कोई उपाय नहीं रह गया था कि या तो बम्बई चले जायें या अपने उपन्यास बाज़ार में बेचें। प्रेमचन्द ने बम्बई का रास्ता पकड़ा। दो-तीन कहानियाँ भी उन्होंने लिखीं परन्तु वहाँ कहानीकार पर इतने प्रतिबन्ध थे, उसका स्थान इतना नगण्य था, कि प्रेमचंद घबड़ा उठे। अंत में उन्होंने इस क्षेत्र से हट जाना ही अच्छा समझा। वह बनारस लौट आये और वहीं उन्होंने 'गोदान' को समाप्त किया। बम्बई से लौटने के एक वर्ष बाद ही वह चल दिये। १९३६ ई० की सोलह जून को उनके पेट में दर्द उठा और खून की क़ै हुई। तब से जो बीमार पड़े कि हज़ार इलाज कराने पर भी बिस्तर से उठ न सके। इसी वर्ष अक्तूबर के महीने में उनका देहान्त हो गया। उस समय वे चारपाई पकड़े हुए ही

'मंगलसूत्र' लिख रहे थे। दुर्भाग्यवश यह उपन्यास अधूरा ही रह गया। उनके पीछे उनके पुत्र अमृतराय और श्रीपतराय रह गये। एक बेट: थी जिसकी शादी उनके जीवनकाल में ही हो चुकी थी। उनको मृत्यु ने हिंदी संसार के सर्वश्रेष्ठ औपन्यासिक और जनता के पहले कलाकार को काम के बीच में ही उठा लिया। आज एक युग बीत रहा था, परन्तु उनका सिंहासन उसी तरह ख़ाली पड़ा है।

यदि हम २०वीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य के इतिहास का अध्ययन करें तो यह मालूम हो जायगा कि १९००—१९२० तक साहित्य की भाषा का संस्कार ही होता रहा और यद्यपि कई शक्तियों का प्रवेश उसी समय साहित्य में हुआ, जैसे कहानी, परन्तु उनका विकास १९२० के बाद हुआ। द्विवेदीकाल ( १९०० —१९२० ) का सारा प्रयास भाषा के मार्जन में ही लग गया। मौलिक साहित्य की सृष्टि के लिये न उपयुक्त वातावरण तैयार हो सका था, न ठीक-ठीक भाषा। इस युग के साहित्य पर संस्कृत, अंग्रेज़ी और बँगला के प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। मौलिक साहित्य बहुत कम है। गद्य में या तो अनुवाद मिलते हैं या उनकी छाया लेकर लिखी गई पुस्तकें सामने आती हैं। भाषा पर संस्कृत का प्रभाव अधिक है। एक प्रकार से यह युग बहुत महत्वपूर्ण है। इसी युग में धीरे-धीरे हमारी खड़ी बोली की कविता का जन्म हो रहा था और आज पद्य में भाव और भाषा की सफ़ाई के लिए जो चेष्टायें दीख पड़ती हैं, वैसा ही काम उस समय पद्य के क्षेत्र में हो रहा था। हिंदी पद्य अभी तक ठीक-ठीक भाषा नहीं पा सका था। गद्य में प्रेमचन्दी भाषा के रूप में हमें चुस्त, मुहावरों से सजा, करुण भावना से भरा भाषा का स्वरूप मिला। प्रेमचन्द की देन यही भाषा है।

परन्तु भाषा से भी कहीं अधिक प्रेमचन्द ने कथा-साहित्य को दिया। प्रेमचन्द के पहले हिन्दी जनता बंकिमचंद्र के उपन्यास, रवीन्द्र नाथ की कहानियाँ, रेनाल्ड के अनुवाद, देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी और किशोरीलाल के उपन्यास और कहानियाँ पढ़ती थी। इनमें प्रतिदिन की समस्याओं को सुलझाने का या उन्हें जनता के सामने उपस्थित करने की कोई भावना ही नहीं थी। प्रेमचन्द ने हिन्दी प्रदेश की कौटुम्बिक, सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं को साहित्य का विषय बनाया और उसे बङ्गाली लेखकों के रोमांस और उनकी अतिभावुकता से छुड़ाया। उन्होंने देश की राजनीति के साथ तो योग दिया ही, ग्रामीण जनता को वाणी भी दी और उसके सुख-दुःख से राजनीति-चतुर मध्यवर्ग को परिचित कराया। उनका साहित्य उनके युग का पूरा-पूरा दर्पण है यद्यपि 'गोदान' ( उपन्यास ) और कितनी ही कहानियों में वे अपने युग को पीछे छोड़ कर मीलों आगे बढ़ गये हैं।

प्रेमचन्द का साहित्य कितना विशद है, विपुल है, विभिन्न है—इसका कदाचित् उनके पाठकों को अनुमान नहीं होगा। कारण यह है कि उनका जो कुछ भी है वह अपने में इतना पूर्ण है कि दूसरे अंगों में उन्होंने किस प्रकार कितना विचार-योग या सहयोग दिया, इसकी ओर लेखकों और पाठकों का ध्यान ही नहीं जाता। इसीलिये हम नीचे उनकी रचनाओं की तलिका उपस्थित करते हैं—

## उपन्यास

प्रेमा, वरदान ( १९०२ ), प्रतिज्ञा ( मूल १९०६ ), सेवासदन (१९१६), प्रेमाश्रम (१९२२), रंगभूमि ( १९२५ ) ग़बन ( १९३१ )

कर्मभूमि (१६३२), निर्मला (१६२३), गोदान (१६३६) कायाकल्प (१६२८) मंगलसूत्र (अधूरा छोड़ गये)

## कहानी

सप्तसरोज, नवनिधि, प्रेमपूर्णिमा, प्रेमपचीसी, प्रेमतीर्थ, प्रेमद्वादशी, प्रेमप्रसून, प्रेरणा, पाँचफूल, ग्राम्यजीवन की कहानियाँ, नारी, नारी जीवन की कहानियाँ, समरयात्रा, मानसरोवर (४ भाग), अग्निसमाधि, कफ़न और शेष कहानियाँ।

## नाटक

प्रेम की वेदी, कर्बला, संग्राम।

## अनुवाद

सृष्टि का आरम्भ, फ़िसाने आज़ाद, सुखदास, अहङ्कार, हड़ताल, चाँदी की डिबिया, न्याय।

## बालोपयोगी

मनमोदक, कुत्ते की कहानी, जंगल की कहानियाँ, टाल्सटाय की कहानियाँ, दुर्गादास, रामचर्चा।

## निबन्ध

कुछ विचार; क़लम, तलवार और त्याग; मौ० शेख़ सादी।

## पत्र

जागरण, हंस

२०वीं शताब्दी में महावीरप्रसाद द्विवेदी के काम को छोड़ कर किसी भी साहित्यकार का काम इतना बड़ा और इतना महत्वपूर्ण नहीं है। इस पर तुर्रा यह कि हमने यहाँ केवल हिन्दी साहित्य में किया काम ही कहा है वैसे उर्दू साहित्य में कथा

और निबन्धों के क्षेत्र में उन्होंने अमूल्य सेवायें की हैं और वे उर्दू साहित्य के कथाकारों में अग्रगण्य माने जाते रहेंगे।

प्रेमचन्द की रचनाओं में आकार-प्रकार की बड़ी विभिन्नता है—बड़े-बड़े ४०० पृष्ठों से लेकर १००० पृष्ठों तक के उपन्यास और एक-दो पृष्ठों की कहानियाँ। उन्होंने कम भी नहीं लिखा है। उनकी रचनाओं के तीन विभाग किये जा सकते हैं—१ मौलिक रचनाएँ (उपन्यास, कहानियाँ, नाटक, बच्चों की चीज़ें) २ अनुवाद (उर्दू और अंग्रेजी से जिनमें टाल्सटाय, गैल्सवर्दी, अनातोले फ्रांस और रतननाथ सरशार के अनुवाद प्रमुख हैं) ३ लेख, भाषण, 'हंस' की सम्पादकीय टिप्पणियाँ आदि। यह सामग्री काल-क्रम के अनुसार एक बड़े पिछले समय से १६०३-०४ की "ज़माना" (उर्दू पत्र) से लेकर १६३६ तक के बीसियों, दैनिकों, मासिकों, साप्ताहिकों और पुस्तकों के रूप में उपलब्ध हैं। वे फ़िल्म में भी गये हैं और उनका "मज़दूर" फ़िल्म नाटक हमारे सामने सरकारी कतरब्यौंत के साथ आया। इस प्रकार प्रेमचन्द ने १०,००० पृष्ठ से कम नहीं दिये हैं। किसी भी मनुष्य के लिये इतनी सामग्री का अध्ययन करना कठिन हो जाता है। अन्य भारतीय लेखकों में इतनी सामग्री रवीन्द्रनाथ की ही होगी। इस समस्त साहित्य पर ध्यान देने से हमें प्रेमचंद के विकास और उन पर पड़े प्रभावों का क्रम मालूम हो जायगा। इस समय हम केवल उनकी मोटी-मोटी विशेषताओं और सुलझी हुई बातों को ही ले सकते हैं।

बहुधा देखा जाता है कि मनुष्य पहले कुछ भावों में आ जाता है, फिर अपना दृष्टिकोण विकसित कर लेता है और उसे पकड़ कर बैठ जाता है। ज़माना उससे बदला लेता है, उसे छोड़कर आगे चला जाता है। प्रेमचंद किन्हीं सिद्धान्तों को पकड़

कर नहीं बैठ गये। वे प्रगतिशील रहे। वे ज़माने के आगे नहीं चलते। उतनी क्षमता उनमें नहीं थी, यह स्पष्ट है। परन्तु वे ज़माने के साथ-साथ दौड़ लगा कर चले। "ज़माना" (पत्र) में प्रकाशित उनके आरम्भ के लेखों, स्केचों, और कहानियों को देखिये और 'गोदान' और 'कफ़न' की कहानियों से इन्हें मिलाइये। दोनों प्रेमचंद की कृतियों के दो छोर हैं और बीच की डोर लम्बी है। अंतिम कृतियों की ओर संक्रमण करने में उन्हें कई वर्ष लगे और कितने ही दृष्टिकोणों और प्रभावों में होकर उन्हें जाना पड़ा। परंतु रहे वे बढ़ते-चलते। आग में तपकर वे सोना होकर ही निकले।

प्रेमचंद ने १६०८-०६ के आसपास जिस समय 'ज़माना' में लिखना शुरू किया उस समय आर्य-समाज का आन्दोलन बहुत ज़ोर पर था। यह हिंदू-समाज के मध्यवर्ग से सम्बंध रखता था। इसके सिवा इस समय मध्यवर्ग प्राचीन रूढ़ियों और नवीन विचारों के बीच में भटक रहा था। पुराने आदर्शों की हँसी उड़ाई जाती थी और उचित-अनुचित का विचार न किये बिना ही शासकवर्ग की देखा-देखी कुटुम्ब, समाज और संस्थाओं में परिवर्तन करने की चेष्टा की गई थी। प्रेमचंद की रचनाओं का एक बड़ा भाग इस सुधारवाद और नवीन एवं प्राचीन के आदर्श-संघात (संघर्ष) से सम्बन्ध रखता है।

उस समय समाज में विधवा-विवाह, बाल-विवाह, दहेज आदि कुप्रथाओं के विरुद्ध आन्दोलन हो रहे थे। राजनैतिक क्षेत्र में भी कांग्रेस का नरमदल सरकार से प्रार्थना के द्वारा कुछ विशेष सुधार पाने का आन्दोलन कर रहा था। १६१४ में महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। इसके फलस्वरूप राजनैतिक वातावरण में बड़ी चेतनता आ गई। महायुद्ध की समाप्ति पर अंग्रेज

सरकार ने 'रोलट एक्ट' पास किया। इसमें जो सुधार दिये गये थे वे नेताओं को मान्य नहीं थे। १९१९ ई० में महात्मा गांधी के राजनैतिक क्षेत्र में सक्रिय प्रवेश के साथ कांग्रेस के उग्रदल की भारी जीत हुई। सुधारों के प्रति असंतोष प्रगट करने के लिये देशव्यापी आन्दोलन किया गया। विदेशी का बायकाट, राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना, खद्दर का प्रचार आदि इस आन्दोलन के कार्यक्रम थे। अहिंसा और सत्य के दो नैतिक तत्त्वों को महात्मा गांधी की प्रतिभा ने राजनीति का प्रधान अंग बनाकर सामने रखा था।

१९१९ में आन्दोलन के आरम्भ के कुछ ही समय बाद पंजाब में जलयानवाले बाग का हत्याकांड हुआ। इसने आन्दोलन की प्रगति में सहायता दी। यह आन्दोलन दो वर्ष तक उग्र रूप से चला। १९२१ में चौरी-चौरा कांड के बाद महात्माजी ने इसे स्वयम् स्थगित कर दिया। इसके बाद उन्होंने रचनात्मक कार्य की ओर अधिक ध्यान दिया। उनके संदेश को उनके प्रशंसकों ने दूर गावों तक पहुँचाने का प्रयत्न किया।

आठ वर्ष पश्चात् १९३० ई० में दूसरा असहयोग आन्दोलन शुरू हुआ। यह दो वर्ष तक चला। इसका उद्देश्य सायमन कमीशन का विरोध था। तीसरा आन्दोलन १९३५ में नमक कर के विरुद्ध था।

इन आन्दोलनों का यह प्रभाव हुआ कि मध्यवर्ग के लोग गाँव और उसके निवासियों में दिलचस्पी लेने लगे। प्रेमचंद इसी समय आये। १९१९ में ही उन्होंने गाँवों को अपना विषय बनाया। उनकी दृष्टि मध्यवर्ग से हट कर गाँव के निवासियों तक गई। उन्होंने अपनी कहानियों में उनकी समस्याएं रक्खीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने जन-आन्दोलनों का ठीक-ठीक चित्रण

किया। उन्होंने गाँवों की आत्मा को समझा और हमारे साहित्य के इतिहास का एक महत्वपूर्ण पृष्ठ तैयार किया।

इसीलिये मोटे ढङ्ग से हम उनकी रचनाओं पर चार प्रभाव देखते हैं :—

१—आर्यसमाज के सुधारों का प्रभाव।

२—मॉडरेटों की सुधार प्रवृत्ति का प्रभाव।

३—गांधीजी के सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलनों से जन-समाज में उत्पन्न चेतना का चित्रण।

४—साम्यवाद का प्रभाव। परन्तु उनकी दृष्टि ने किसी भी अन्य क्षेत्र को छोड़ा नहीं है। १६०२ से १६३५ तक क्रांतिकारियों के भिन्न-भिन्न दल बम, पिस्तौल और सशस्त्र क्रांति का मंत्र फूँकते रहे और बलि होते रहे। "ख़ुदाई फ़ौजदार" जैसी कुछ कहानियों में प्रेमचंद ने अत्यन्त सहृदयता से इनका भी चित्रण किया है।

प्रेमचंद हिंदी-साहित्य में उपन्यास-सम्राट के नाम से प्रसिद्ध हैं। भारतेन्दु हरिश्चंद्र के बाद कोई भी ऐसा साहित्यकार नहीं हुआ जो इतना लोकप्रिय रहा हो, और जिसकी रचनाओं ने जीवन के इतने क्षेत्रों को देखा हो। लोकप्रियता की दृष्टि से तो वे भारतेन्दु से भी कहीं आगे बढ़ गये हैं। प्रेमचंद से पहले हिंदी उपन्यास-साहित्य को सुरुचिपूर्ण मध्यमवर्ग के पाठक कहाँ मिले थे? शिक्षित वर्ग उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखता था। प्रेमचन्द ने साहित्य ही नहीं रचा, उन्होंने अपने लिये पाठक पैदा किए। उन पाठकों ने (जो उपन्यास की सार्वभौमिक गति-विधि से परिचित थे) मुक्तकंठ से उनकी प्रशंसा की और उन्हें उपन्यास-सम्राट कहा।

प्रेमचंद की इस लोकप्रियता का कारण क्या था? कारण एक नहीं था—कई कारण थे :—

(१) प्रेमचंद ने प्रथम बार समस्यामूलक सामाजिक उपन्यासों को उपस्थित किया। इनसे पहले सामाजिक उपन्यास लिखे गये थे और उनका विषय समाजसुधार (विधवा-विवाह आदि) भी था, परन्तु वहाँ समस्या के ठीक-ठीक व्यापक स्वरूप की पहचान नहीं मिलती, न रोग का कोई निदान ही हमारे सामने आता है।

(२) इसके साथ ही उन्होंने दी अत्यन्त रोचक, मनोरंजक कथावस्तु।

(३) साथ ही व्यक्ति, वर्ग और समूह का मनोविज्ञान।

(४) अत्यन्त नवीन, उत्कृष्ठ शैली जो वर्णन, वार्तालाप, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, प्रकृति-चित्रण आदि में प्रकाशित हुई है।

(५) समस्या के हलों की ओर इंगित जो उनके सुधारवादी दृष्टिकोण का फल था। वस्तुवादी कलाकार समस्या को उपस्थित करके ही चुप रहता है—उसे यह नहीं कहना है कि समस्या का हल क्या है। सुधारवादी अंत को प्रति पल सामने रखता है। प्रेमचंद के सम्बन्ध में भी यही बात—कुछ हद तक—ठीक कही जा सकती है। परंतु प्रेमचंद समस्या को अंत के विचार से तोड़ते-मरोड़ते नहीं थे। वे उसे यथार्थरूप में, कभी नपे-तुले शब्दों में, कभी विस्तार से सामने रखते थे। उन्होंने समस्या का जो हल उपस्थित किया है, उससे असहमत होते हुये भी हम उनके समस्या के चित्रण से लाभ उठा सकते हैं। उनकी समस्या के हलों का अध्ययन करते हुए हम यह समझ सकते हैं कि सामयिक घटनाओं का एक अत्यन्त भावुक और क्रांतिदर्शी

कलाकार पर क्या प्रभाव पड़ता है। और कुछ नहीं तो इसीलिये हमें यह जानना ज़रूरी है कि उन्होंने समस्याओं का निराकरण किस प्रकार किया है।

अध्ययन शुरू करने से पहले हमें यह समझ लेना चाहिये कि प्रेमचंद प्रगतिशील कलाकार थे। उन्होंने स्वयं लिखा है—"साहित्कार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है; अगर यह उसका स्वभाव न होता तो शायद वह साहित्यकार ही न होता।"

( प्रगतिशील सभा के अधिवेशन में प्रेमचन्द का भाषण )

इसी दृष्टिकोण के कारण वह निरन्तर समाज, देश और साहित्य की गतिविधि के पारखी रहे और उन्होंने इनमें से प्रत्येक की नवीन प्रगतियों को समझा और उन्हें आशीर्वाद दिया। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि वह मुख्यतः टाल्सटाय की श्रेणी के आदर्शवादी कलाकार थे। उन्हें लगभग अंत तक विश्वास था कि असत्य पर सत्य की विजय होती है, पुण्य पाप को परास्त करता है और लेखक को पाप और असत्य के पूरे बल को दिखाते हुए भी अंत में उन्हें पराजित कराना है। जहाँ ये पराजित नहीं होते, वहाँ भी वे समझौता करा देते हैं। स्वयं उनका युग आदर्शवाद और यथार्थवाद के समझौते का युग था। राजनीति में गांधी-इर्विंग पेक्ट इसका प्रतीक है, काव्य में मैथिलीशरण गुप्त की रचनाएँ। प्रेमचन्द यथार्थवाद के अत्यंत निकट रहते हुए भी मूलतः आदर्शवादी थे। उन्होंने समझौता करके जो मार्ग निकाला था उसे उन्होंने "आदर्शोन्मुख यथार्थवाद" कहा है। इसका अर्थ यही है कि वे समस्याओं, परिस्थितियों, व्यक्ति की पतनोन्मुख प्रवृत्तियों के चित्रण में यथार्थवादी थे यद्यपि सुरुचि का वे सदा ध्यान रखते थे। परन्तु वह प्रत्येक

समस्या का हल समझौते में ढूँढ लेते थे। परिस्थितियों पर मनुष्य की विजय वे इसी तरह घोषित करते हैं और उनके पात्रों की सद्वृत्तियाँ उनकी कुप्रवृत्तियों को परास्त कर देती थीं। कला और साहित्य के प्रति उनके कुछ विचार ये हैं—

(१) "साहित्य आदमी-आदमी के आपस के भेद को मिटा कर उनकी मौलिक एकता को व्यक्त करता है"। ('हंस' में)

(२) "उसका आधार सत्य-असत्य का संघर्ष है।"

(३) "यथार्थवाद स्तुत्य है, परन्तु नग्न यथार्थता घृणित है।" ('कायाकल्प' में चक्रधर)

(४) "साहित्य उस मानव-मन की संतुष्ठि है जो अपने चारों ओर के छल, क्षुद्रता और कपट से ऊपर उठ कर ऐसे लोक में पहुँचना चाहता है जहाँ उसे इनसे छुटकारा मिले।"

(५) "इतना होने पर वह यथार्थ को नहीं छोड़ सकता। वह यथार्थ के इतने निकट है कि उसकी रचनाओं से यथार्थ का ही भ्रम होता है।"

(६) "अनर्गल यथार्थ अग्राह्य है, मङ्गलमय यथार्थ संग्रहणीय है, यदि वह अपवाद-रूप भी हो।"

(७) "असुन्दर का साहित्य में उतना ही स्थान है जिससे उसमें जो सुंदर है उसकी सुन्दरता न बिगड़ने पावे, परन्तु सुन्दर क्या है, असुंदर क्या है, यह जाँचना कठिन है।"

(८) "उसमें बुद्धिवाद की अपेक्षा भावुकता को ही अधिक सम्मान मिलना चाहिये। बुद्धि का प्रयोग इतना ही कि रचना पागल का असम्बद्ध प्रलाप न हो जाय?"

(९) "साहित्य दुखावस्था की अनुभूति ही नहीं कराता, हमें दुखों के कारण से भी परिचित कराता है और हमें परिकर-बद्ध

करता है कि हम प्रयत्नशील हों और दुख के कारणों को दूर करें।

( १० ) "साहित्य का मुख्य उद्देश्य आनन्द ही है परन्तु उस आनन्द के साथ, लगभग उतनी ही महत्ता की चीज़ है उसकी उपयोगिता। प्रेमचन्द स्वतः साहित्य को प्रचार ( समाज-सुधार आदि ) का साधन बनाते हैं। साहित्य का कोई विषय तो होगा ही, फिर उसमें प्रगतिशील दृष्टिकोण क्यों न रखें, परिस्थिति का आनन्द ही लेकर क्यों रह जायें, क्यों उससे ऊपर उठने की चेष्टा न करें? ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रेमचन्द को नग्न यथार्थवाद और निरर्थक ( आनन्दवादी ) यथार्थवाद से चिढ़ थी। वह यथार्थवाद भी उन्हें मान्य न था जो हमें हतोत्साह कर दे, हम को विष-रूप बना दे! वह यथार्थवाद को पूर्ण परंतु संयत रूप में ग्रहण करने और उसपर आदर्शवाद की छाप छोड़ने के पक्षपाती थे। वह लिखते हैं—"यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों से जकड़ा होता है और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ-न-कुछ दाग़-धब्बे रहते हैं, इसलिये यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ़ बुराई ही बुराई नज़र आने लगती है।"

इस अवतरण से उनकी चिढ़ स्पष्ट है। परंतु उन्होंने इस यथार्थवाद को परिष्कृत किया है—

( १ ) उसमें उपयोगिता का अंश जोड़ कर। "साहित्य का जन्म उपयोगिता की भावना का ऋणी है। जो चतुर कलाकार

है, वह उपयोगिता को गुप्त रखने में सफल होता है, जो इतना चतुर नहीं है, वह उपदेशक बन जाता है और अपनी हँसी उड़वाता है।"

"मेरा पक्का मत है कि परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सभी कलाएँ उपयोगिता के सामने घुटना टेकती हैं।"

( २ ) उसे आदर्शवादी और फलतः उत्साहवर्द्धक बनाकर
( ३ ) उसे संयत कर
( ४ ) उसमें बुद्धिवाद का मिश्रण कर
( ५ ) उसमें सौन्दर्य और सहृदयता ढूँढ़ कर
( ६ ) उसके मङ्गलमय अंगों पर बल देकर इस प्रकार वे अपने यथार्थवाद को आदर्शवाद की भित्ति बनाने में सफल हुए हैं।

प्रेमचंद के व्यक्तित्व में यथार्थ और आदर्श का संघर्ष संगम के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। फल-स्वरूप उनकी रचनाओं के पूर्वांग यथार्थवाद से प्रभावित हैं उत्तरांग आदर्शवाद से प्रेरित हैं। सभी बड़े उपन्यासों में यही बात दिखलाई देगी। उनकी आधार-वस्तु अत्यंत ठोस है, उनके निजी गहरे अनुभव और तीव्र पर्यवेक्षण की उपज है। परंतु उस आधार-वस्तु को ज्यों का त्यों रख कर प्रेमचंद स्वयं उपस्थित हो जाते हैं और सूत्र को अपनी आदर्शवादी प्रकृति के हाथ में दे देते हैं। यही उनकी सीमा है। वे मनुष्य की कमज़ोरियाँ दिखाते हैं और ख़ूब दिखाते हैं और कहीं-कहीं पात्र उन कमज़ोरियों के ही शिकार हैं जैसे प्रेमाश्रमका ज्ञानशङ्कर और गोदान का होरी। परंतु वे अधिकतः उन कमज़ोरियों की आँच में तपकर देवता होकर निकलते हैं। अमरकांत, विनय आदि कितने ही प्रमुख पात्रों की यही परिस्थिति है।

प्रेमचंद का विस्तृत अध्ययन आरम्भ करने से पहले हमें आपके साहित्य, कला, उपन्यास और कहानी-सम्बंधी आदर्शों

और विचारों का समझना भी ज़रूरी है जिससे हम उनकी रचनाओं को उनके मापदंड से भी नाप सकें। ऐसी सामग्री "कुछ विचार" निबंध-संग्रह में संग्रहीत है :—

## १—साहित्य

"मेरे विचार में उसकी ( साहित्य की ) सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबंध के रूप में हो, चाहे कहानियों के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिये।"......(साहित्य का उद्देश्य)

"नीतिशास्त्र और साहित्यशास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अंतर है। नीतिशास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिये मानसिक अवस्थाओं और भावों को चुना है।"..... ...( वही )

"साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है; अगर वह उसका स्वभाव न होता, तो शायद वह साहित्यकार ही न होता। उसे अपने अंदर भी एक कमी महसूस होती है और बाहर भी। इसी कमी को पूरा करने के लिये उसकी आत्मा बेचैन रहती है। अपनी कल्पना में वह व्यक्ति और समाज को सुख और स्वच्छंदता की जिस अवस्था में देखना चाहता है, वह उसे दिखाई नहीं देती। इसीलिये वर्तमान मानसिक और सामाजिक अवस्थाओं से उसका दिल कुढ़ता रहता है। वह इन अप्रिय अवस्थाओं का अंत कर डालना चाहता है जिससे दुनिया जीने और मरने के लिये इससे अधिक अच्छा स्थान हो जाये। यही वेदना और यही भाव उसके हृदय और मस्तिष्क को सक्रिय बनाये रखता है।"........( वही )

"मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीज़ों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तोलता हूँ।"......( वही )

परंतु यह उपयोगिता ठीक रुपया आने पाई में आंकी जा सकती हो, प्रेमचंद का यह भाव नहीं है। वह उपयोगिता है सौन्दर्यवृत्ति की पुष्टि, सांसारिक सुख-दुख को सहन करने की शक्ति, बंधुत्व और समता का भाव अथवा सहृदयता का विकास एवं मानसिक और बौद्धिक विकास। इसीलिए उनके विचार में कलाकार के व्यक्तित्व का अंग है जीवन संग्राम में सौन्दर्य देखना और आज उसका काम है त्याग. श्रद्धा, कष्ट-सहिष्णुता की महिमा, आदर्शवाद, साहस, कठिनाई से मिलने की इच्छा और आत्मत्याग का जयशंख बजाना। इसी लेख में इन्हीं भावों की विशद व्याख्या प्रेमचन्द ने की है। "वह ( साहित्य ) देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई ही नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।"

"यदि साहित्यकार ने अमीरों के याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो, और उन आन्दोलनों, हलचलों और क्रांतियों से बेख़बर हो जो समाज में हो रही हैं—अपनी ही दुनिया बनाकर रोता और हँसता हो, तो इस दुनिया में उसके लिये जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है।"

"( अब ) साहित्य की प्रवृत्ति अहंवाद या व्यक्तिवाद तक परिमित नहीं रही, बल्कि वह मनोवैज्ञानिक और सामाजिक होता जाता है। अब वह व्यक्ति को समाज से अलग नहीं देखता, किंतु उसे समाज के एक अङ्ग-रूप में देखता है।"

"जो दलित हैं, पीड़ित हैं, वंचित हैं—चाहे वह व्यक्ति हों या समूह, उनकी हिमायत और वकालत करना उसका ( साहित्यकार का ) फ़र्ज़ है।"

दूसरे स्थान पर वह लिखते हैं--

"साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवारें खड़ी होती हैं, उसकी अट्टारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते हैं लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उसे देखने को जी भी न चाहेगा। जीवन परमात्मा की सृष्टि है; इसलिए अनन्त है अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है इसलिये सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिमित है। जीवन परमात्मा को अपने कार्यों का जवाबदेह है या नहीं, हमें मालूम नहीं, लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है। इसके लिए क़ानून हैं, जिनसे वह इधर-उधर नहीं हो सकता।"

"साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहाँ साहित्य बाज़ी ले जाता है।"

"साहित्यकार बहुधा अपने देशकाल से प्रभावित होता है, जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है। उसकी विशाल आत्मा अपने देशबन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और उस तीव्र विकलता में वह रो उठता है, पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है।"

"स्थायी साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है। वह मानवचरित्र की कालिमाएँ नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलता दिखाता है।"

(जीवन में साहित्य का स्थान)

"साहित्य की आत्मा आदर्श है और उसकी देह यथार्थ चित्रण।"

(एक भाषण)

## २—साहित्यकार

"साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है—कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिये।"

( उपन्यास )

## ३—कला

प्रेमचन्द "कला के लिये कला" के उपासक नहीं हैं। वे लिखते है—" 'कला के लिये कला' का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भाँति भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है, दुःख-दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण क्रन्दन सुनाई पड़ता है, तो कैसे सम्भव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे ? हाँ, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये कि उसके विचार परोक्ष रूप में व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पायें, अन्यथा उपन्यास नीरस हो जायगा।"

( उपन्यास )

## ४—उपन्यास और कहानी

"मैं उपन्यास को मानव जीवन का चित्रमात्र समझता हूँ। मानवचरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूलतत्त्व है।"

"चरित्र-सम्बन्धी समानता और विभिन्नता—अभिन्नत्व में भिन्नत्व और विभिन्नता में अभिन्नत्व दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्तव्य है।"[१]

( उपन्यास )

"उपन्यासकार का प्रधान गुण उसकी सृजन-शक्ति है। अगर उसमें इसका अभाव है, तो वह अपने काम में भी सफल नहीं हो सकता। उसमें और चाहे जितने अभाव हों, पर कल्पना-शक्ति की प्रखरता अनिवार्य है। अगर उसमें यह शक्ति मौजूद है, तो वह कितने ही दृश्यों, दशाओं और मनोभावों का चित्रण कर सकता है जिनका उसे प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है।"

"उपन्यास की रचना शैली सजीव और प्रभावोत्पादक होनी चाहिये।"

"भविष्य उन्हीं उपन्यासों का है जो अनुभूति पर खड़े हैं।"

"भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छोटाई-बड़ाई का फैसला उन कठिनाइयों से किया जायगा जिन पर उसने विजय पाई है।"

"यह ज़रूरी नहीं कि हमारे चरित्र-नायक ऊँची श्रेणी के मनुष्य हों। हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्षा और द्वेष मनुष्य मात्र में व्यापक हैं।"

"खेद है कि आजकल के उपन्यासों में गहरे भावों के स्पर्श करने का बहुत कम मसाला रहता है। अधिकांश उपन्यास गहरे और प्रचण्ड भावों का प्रदर्शन नहीं करते। हम आये दिन की साधारण बातों में ही उलझ कर रह जाते हैं।"

"उपन्यासकार को इसका अधिकार है कि वह अपनी कथा को घटना-वैचित्र्य से रोचक बनाये, लेकिन शर्त यह है कि प्रत्येक

घटना असली ढाँचे से निकट संबंध रखती हो; इतना ही नहीं, वल्कि उसमें इस तरह घुलमिल गई हो कि कथा का आवश्यक अंग बन जाये, अन्यथा, उपन्यास की दशा उस घर की-सी होगी जिसके हरेक हिस्से अलग-अलग हों। जब लेखक अपने मुख्य विषय से हटकर किसी दूसरे प्रश्न पर बहस करने लगता है तो वह पाठक के उस आनंद में वाधक हो जाता है जो उसे कथा में आ रहा था। उपन्यास में वही घटनायें, वही विचार लाना चाहिये जिनसे कथा का माधुर्य बढ़ जाय, जो प्लाट में सहायक हों अथवा चरित्रों के गुप्त मनोभावों का प्रदर्शन करते हों।"

"उपन्यास के चरित्रों का चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकासपूर्ण होगा उतना ही पढ़ने वालों पर उसका असर पड़ेगा × ×"

"...उपन्यास चरित्रों के विकास का ही विषय है। अगर उसमें विकास-दोष है, तो वह उपन्यास कमजोर हो जायगा। कोई चरित्र अंत में भी वैसी ही रहे जैसा वह पहले था—उसके बल-बुद्धि और भावों का विकास न हो, तो वह असफल चरित्र है।"

'जिस उपन्यास का समाप्त करने के बाद अपने अंदर उत्कर्ष का अनुभव करे, उसके सद्भाव जाग उठें, वही सफल उपन्यास है।"

(उपन्यास का विषय)

"रङ्गभूमि का बीजांकुर हमें एक अंधे भिखारी से मिला जो हमारे गाँव में रहता था।"

(उपन्यास)

"आख्यायिका केवल एक घटना है। अन्य सब घटनाए उसी घटना के अंतर्गत होती हैं।"

"आजकल कथा भिन्न-भिन्न रूप से आरम्भ की जाती है। कहीं दो मित्रों की बातचीत से कथा आरम्भ हो जाती है, कहीं पुलिसकोर्ट के एक दृश्य से। परिचय पीछे आता है। यह अंग्रेजी आख्यायिकाओं की नकल है। इससे कहानी अनायास ही जटिल और दुर्बोध हो जाती है। योरपवालों की देखा-देखी पत्रों द्वारा, डायरी या टिप्पणियों द्वारा भी कहानियाँ लिखी जाती हैं। मैंने स्वयं इन सभी कथाओं पर रचनाएँ की हैं, पर वास्तव में इससे कहानी की सरलता में बाधा पड़ती है। योरप के विज्ञ समालोचक कहानियों के लिये किसी अंत की भी ज़रूरत नहीं समझते×××"

( कहानी-कला १ )

"वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है, इतना ही नहीं बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।"

"सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।"

"किसी समस्या का समावेश कहानी को आकर्षिक बनाने का सबसे उत्तम साधन है। जीवन में ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित रहती हैं और उनसे पैदा होने वाला द्वन्द्व आख्यायिका को चमका देता।"

"तत्वहीन कहानी से चाहे मनोरंजन भले ही हो जाय, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते, लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के

लिए, मन में सुन्दर भावों को जाग्रत करने के लिये, कुछ-न-कुछ अवश्य चाहते हैं।"

## ( कहानी-कला २ )

"आजकल के उपन्यासों और आख्यायिकाओं में अस्वाभाविक बातों के लिये गुञ्जाइश नहीं है। इनमें हम अपने जीवन का प्रतिबिंब देखना चाहते हैं। उसके एक-एक वाक्य को एक-एक पात्र को यथार्थ के रूप में देखना चाहते हैं। उनमें जो कुछ भी हो, वह इस तरह लिखा जाय कि साधारण बुद्धि उसे यथार्थ समझे। घटना वर्तमान कहानी या उपन्यास का मुख्य अंग नहीं है। उपन्यासों में पात्रों का केवल वाह्यरूप देखकर हम सन्तुष्ट नहीं होते। हम उनके मनोगत भावों तक पहुँचना चाहते हैं।"

"मानसिक द्वन्द्व वर्तमान उपन्यास या गल्प का खास अङ्ग है।"

"वर्तमान आख्यायिका या उपन्यास का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएँ और पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त ही लाये जाते हैं। उनका स्थान बिलकुल गौण है।"

"यह तो सभी मानते हैं कि आख्यायिका का प्रधान धर्म मनोरंजन है; पर साहित्यिक मनोरंजन वह है जिससे हमारी कोमल और पवित्र भावनाओं को प्रोत्साहन मिले—इसमें सत्य, निस्स्वार्थ-सेवा, न्याय आदि देवत्व के जो अंश हैं, वे जाग्रत हों।"

## ( कहानी-कला ३ )

( कथोपकथन और पात्रों की भाषा )

१—उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की क़लम से जितना भी कम लिखा जाय, उतना ही उपन्यास सुन्दर होगा।

२—वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिये। प्रत्येक वाक्य को—जो किसी चरित्र के मुँह से निकले—उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिये।

३—बातचीत का स्वाभाविक, परिस्थितियों के अनुकूल सरल और सूक्ष्म होना ज़रूरी है।

४—शिक्षित समाज की भाषा तो सर्वत्र एक ही है। हाँ, भिन्न-भिन्न जातियों की ज़बान पर उसका रूप कुछ न कुछ बदल जाता है। बङ्गाली, मारवाड़ी और ऐंग्लो-इंडियन भी कभी-कभी बहुत शुद्ध हिंदी बोलते पाये जाते हैं, लेकिन यह अपवाद है, नियम नहीं; पर ग्रामीण बातचीत कभी-हमें दुबिधा में डाल देती है। बिहार की ग्रामीण भाषा शायद दिल्ली के आस-पास का आदमी समझ ही न सकेगा।

( उपन्यास का विषय )

## ६—यथार्थवाद और आदर्शवाद

इस परिच्छेद के आरम्भ में हमने प्रेमचंदके आदर्शवादी दृष्टिकोण पर विस्तृत रूप से विचार किया है। यहाँ इस सम्बन्ध में प्रेमचंद के कुछ अन्य निश्चित विचारों को उद्धृत करने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते।

"आदर्शवादी कहता है, यथार्थ का यथार्थ रूप दिखानेसे

फ़ायदा ही क्या, वह तो हम अपनी आँखों से देखते ही हैं। कुछ देर के लिए तो हमें इन कुत्सित व्यवहारों से अलग रहना चाहिये; नहीं तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही ग़ायब हो जाता है। वह साहित्य को समाज का दर्पण नहीं मानता, बल्कि दीपक मानता है जिसका काम प्रकाश फैलाना है। भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद ही का समर्थक है। हमें भी आदर्श ही की मर्यादा का पालन करना चाहिये।" ( कहानी-कला १ )

"वही उपन्यास उच्च कोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया है। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर लें।"

"अँधेरी गर्म कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं, तो इच्छा होती है कि किसी बाग़ में निकल कर निर्मल स्वच्छ वायु का आनंद उठायें—इस कमी को आदर्शवाद पूरा करता है।"

"यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शङ्का है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्ति-मात्र हो—जिनमें जीवन न हो।"

( उपन्यास )

२

## प्रेमचन्द के उपन्यासों की समस्याएँ

हम कह चुके हैं कि प्रेमचंद के सभी उपन्यास उपयोगिता के सिद्धान्त को लेकर आगे बढ़ते हैं। फलतः वे समस्या-मूलक हैं। ये समस्याएँ क्या हैं, हमें इस पर विचार करना है। एक शब्द में हम कथा के बीज या आधार की बात ले रहे हैं।

प्रेमचन्द ने सम-सामयिक जीवन के प्रत्येक अंग को देखा है। उनकी दृष्टि नगर, देहात और देहात से बाहर रहने वाले अछूतों और घुमक्कड़ों पर ( देखिए 'कर्मभूमि' ) भी पड़ी है। नगर और देहात का कोई वर्ग उनसे छूटा नहीं है। सभी उनके लिए हस्तामलक हैं। इनके परस्पर के स्वार्थों के संघर्ष, इनकी प्रवृत्तियों, इनके गुण-अवगुण, इनकी आकांक्षाएँ—सभी प्रेमचंद की रचनाओं में प्रतिफलित हैं। उनके चार उपन्यासों में ( प्रतिज्ञा, निर्मला, ग़बन और सेवासदन में ) उन्होंने समाज की कुप्रथाओं को अपना विषय बनाया है। प्रतिज्ञा में विधवा विवाह है, निर्मला में वृद्ध विवाह ( दोहाजू से विवाह ), गबन में स्त्री का गहनों के प्रति मोह और उसके कारण होने वाले अनर्थ और सेवासदन में अनमेल विवाह, विधवा-जीवन की ग्लानि और वेश्या-जीवन—ये समस्याएँ प्रेमचन्द के समय में

जन-समाज को उद्वेगित कर रही थीं (अब भी ये एकदम मिट नहीं गई हैं)। अन्य उपन्यासों में कुछ और समस्याएँ भी सामने आती हैं जैसे समुद्र-यात्रा से धर्म का नाश (सेवाश्रम), समाज की दंडमर्यादा (गोदान में सुमित्रा के कारण होरी को जो दंड देना पड़ा)।

इन शुद्ध सामाजिक समस्याओं के अलावा कुछ ऐसी समस्याएँ भी हैं जो राजनीति से मिली हुई हैं जैसे अछूत समस्या (कर्मभूमि) और चमारों के सुधार की समस्या। इन समस्याओं को प्रेमचन्द ने केवल धार्मिक या सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखा है, वरन् इन्हें ठीक-ठीक वीथिका में रखकर देखा है। इसी प्रकार की एक समस्या यतीमों या अनाथों की समस्या है (प्रेमाश्रम)। छोटी-छोटी ऐसी कितनी ही समस्याओं का निर्देश प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलेगा। इनसे हमें प्रेमचन्द के सामाजिक जीवन के विशद अध्ययन का पता चलता है।

परन्तु प्रेमचन्द समाज के अतिरिक्त राजनैतिक जीवन को भी लेकर चले हैं। इस राजनैतिक जीवन के कई पक्ष हैं। एक पक्ष का सम्बन्ध देहात से है। दूसरे का नगर से। देहात के राजनैतिक जीवन की समस्या किसान-हाकिम, किसान-महाजन और किसान-जमींदार की समस्या है। प्रेमचंद ने इन समस्याओं पर तीन बृहद् उपन्यास खड़े किये हैं। १—प्रेमाश्रम, २—कायाकल्प, ३—गोदान। प्रेमाश्रम और कायाकल्प में मुख्यतः किसान-हाकिम और किसान-ज़मींदार की समस्याएँ हैं। गोदान में किसान-महाजन प्रमुख है। अपनी रचनाओं के प्रारंभिक काल में प्रेमचंद इन वाह्य परिस्थितियों को ही किसान के दुःख का कारण समझते थे। अतः इन्हीं पर बल देते थे। अपने अंतिम

उपन्यास 'गोदान' में उन्होंने किसान की उन मनोवृत्तियों पर बल दिया है जो उसके दुखांत जीवन का कारण है, जो उसे वाह्य परिस्थितियों से मुठभेड़ करने के लायक नहीं छोड़ती और शनैः-शनैः जीवन-शक्ति खींच कर उसे चिता तक पहुँचा देती है। वाह्य परिस्थितियाँ क्या हैं—

१. किसानों पर महाजनों का अत्याचार
२. „ „ हाकिम परगना के चपरासियों का अत्याचार
३. „ „ तहसील का अत्याचार
४. „ „ थानेदार का अत्याचार
५. „ „ कारिन्दा और पटवारी का अत्याचार
६. „ „ ज़मीदार का अत्याचार (ये ज़मीदार अपनी झूठी कुलमर्यादा रखने के लिये आसामी को मृत्यु-पर्यंत दुह रहते हैं।

इनके अतिरिक्त बाढ़, भूकंप, अग्नि, हिम, महामारी आदि प्राकृतिक बाधाएँ तो हैं ही। इन वाह्य परिस्थितियों के भीतर स्वयं किसानों की कौटुम्बिक और वैयक्तिक ईर्ष्या द्वेष, लज्जा भोलापन आदि भी आ जाते हैं। परंतु होरी की कथा में प्रेमचंद ने जिन अंतर्वृत्तियों का विवेचन किया है वे इन वाह्य परिस्थितियों से भी भयानक हैं। वे हैं १—रूढ़िवादिता, २—सम्मिलित कुटुंबी का भाव, ३—लोक-लज्जा का भाव जिससे कर्ज़े लेने की प्रवृत्ति को प्रश्रय मिलता है, ४—भीरुता। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचंद गाँव के रहने वालों की वाह्य-परिस्थितियों और उनकी मनोस्थिति से भली प्रकार परिचित थे। गाँव में होने वाले सहकारिता आन्दोलनों से भी वे परिचित हैं और ग्राम-सुधार के लिए सरकारी और ग़ैरसरकारी

संस्थाओं ने जो किया है, उस सब की उन्हें पहले दर्जे की जानकारी है।

यही नहीं, उन्होंने गाँवों को धीरे-धीरे उजड़ कर शहरों को आबाद करते देखा था और यद्यपि ये इसके विरोधी थे, परन्तु उन्होंने अत्यंत सहृदयता से उन परिस्थितियों का चित्रण किया जो ग्रामीणों को गाँव से बाहर ढकेल देती हैं। नगर के महाजन, सेठ-साहूकार किस प्रकार जनता का दम भरते-भरते बड़ी-बड़ी मिलें खड़ी करते हैं, किस प्रकार गाँव के खेतिहर मजदूर बन कर उनमें दाखिल होते हैं, कैसे उनके आचार-विचार भ्रष्ट होते हैं और वे शहर की आचारहीनता के शिकार होते हैं—यह सब मनोरंजक कहानी तथ्य के साथ रंगभूमि और गोदान में उपस्थित है। प्रेमचंद की कहानियों से यह साफ है कि उन्होंने मजदूर आंदोलनों को अत्यंत निकट से देखा था और वे उद्योगीकरण की समस्याओं की तह में पहुँचे हुए थे।

नगर की एक दूसरी समस्या नागरिक जीवन की समस्या है जिसका केंद्र म्युनिसिपुलेटी है। प्रेमचन्द की कितनी ही कहानियों के पात्र इस संस्था से सम्बंधित हैं और कर्मभूमि में तो इसका विशद चित्रण किया गया है।

गाँव और नगर के किसी भी वर्ग को प्रेमचन्द ने छोड़ा नहीं। उनकी रचनाओं में विलासी राजा-नवाब हैं, सूदखोर महाजन हैं, मिल-मालिक सेठ हैं, नौकरीपेशा मध्यमवर्ग हैं और निम्नवर्ग के अछूत, चमार, कहार यहाँ तक कि किसी भी वर्ग-विशेष में न आने वाले कंजर-बंजारे भी हैं। सामयिक जीवन के सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा जा सकता था, वह प्रेमचन्द ने लिख दिया है। प्रत्येक वर्ग का प्रतिनिधित्व उनकी रचनाओं में मिलेगा। यहाँ तक कि उन्होंने सम्पादकों जैसी नई बनती

शक्तियों को भी अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। उनकी रचनाओं में प्रत्येक वर्ग के स्त्री-पुरुष अपनी झाँकी दिखाते आते हैं।

अपनी कुछ कहानियों में प्रेमचन्द ने भारतीय संस्कृति की झलक दिखाने के लिये प्राचीन इतिहास के पन्नों को टटोला है, परन्तु वे बहुत दूर तक नहीं गये हैं। उन्होंने मुग़लों के पतनोन्मुख वैभव और राजपूत स्त्री-पुरुषों के बलिदान की कथाओं को मुखरित किया है। इनकी ओर उनके आकर्षण का कारण है उनका भारतीय आदर्शों के प्रति प्रेम। इस प्रेम ने ही उनकी सामयिक रचनाओं को भी पुरानेपन का आवरण दे दिया है और वे सामयिक होती हुई भी भारत की प्राचीन संस्कृति से सहस्रशः सूत्रों से सम्बंधित हैं। क्षमा, त्याग, दया, अतिथिप्रेम, आदर्शों पर बलिदान, पति-सेवा, आत्मसम्मान—में कुछ ऐसे आदर्श हैं जो सार्वभौमिक हैं, परन्तु इन आदर्शों को अक्षुण्ण बनाये रखने का सबसे महत् प्रयत्न भारतवर्ष में ही हुआ था। प्रेमचन्द इस बात को खूब जानते थे। उन्होंने अपने उपन्यासों को प्राचीन वैभव से मुक्त कर रखा है। उन्हें जैसे इससे चिढ़ है। इसीसे प्रसादजी के यथार्थवादी सामयिक उपन्यासों की बात करते हुये उन्होंने कहा है—

"मुझे अब तक आपसे यह शिकायत थी कि आप क्यों प्राचीन वैभव का राग अलापते हैं, ऐसी चीज़ें क्यों नहीं लिखते, जिनमें वर्तमान समस्याओं और गुत्थियों को सुलझाया गया हो।"

( 'हंस' में )

स्वयं उन्होंने वर्त्तमान समस्याओं और गुत्थियों को ही स्थान दिया है और उन्हें सुलझाने का प्रयत्न किया है। हो सकता है

कि उन्होंने समस्याओं के जो हल उपस्थित किये हैं, वे ठीक न हों, परन्तु इसमें ज़रा भी संदेह नहीं, कि उन्होंने समस्या को अत्यंत निकट से देखा है और उस पर हरेक पहलू से विचार किया है। यही उनका ध्येय है। समस्याओं के सम्यक्-रूप को पहचानना और उनके क्रान्तिकारी पहलुओं को उपस्थित करना प्रेमचन्द जैसे प्रगतिशील लेखक का ही काम हो सकता था।

साधारण राजनीति के अतिरिक्त प्रेमचंद ने सामयिक राजनैतिक आन्दोलनों को भी अपने उपन्यासों में स्थान दिया है। कहानियों की तो कोई बात ही नहीं है। "समर-यात्रा" की सारी कहानियाँ राजनीतिक आन्दोलनों का दर्पण हैं। आन्दोलनों का विशद चित्रण "रंगभूमि" और 'कर्मभूमि' में हुआ है।

अंत में, हम यह कह देना चाहते हैं कि प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में व्यक्ति और समाज के द्वन्द्व को भी भली प्रकार प्रगट किया है। हमारी जैसी परिस्थिति है, विशेषकर गाँव में, उस परिस्थिति में व्यक्ति समाज के ख़िलाफ़ जा ही नहीं सकता—जा कर या तो वह तिरस्कृत रहता है और उसका स्थान समाज के बाहर ही रहता है, भीतर नहीं, या उसे होरी की तरह डाँड़ भरना पड़ता है। समाज और व्यक्ति के इस द्वन्द में प्रेमचंद समाज को ही विजयी रख कर यथार्थ परिस्थिति का चित्रण करते हैं। उन्होंने ऐसे अपवाद-स्वरूप क्रांतिकारी चरित्रों की अवतारणा नहीं की जो समाज के नियमों से कभी भी समझौता न करें और प्राण देकर भी विरोध की आग सदा जलाये रखें।

३

## वरदान

वरदान प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यासों में से है यद्यपि वह सेवासदन और प्रेमाश्रम के बाद हमारे सामने आया है। इस प्रारम्भिक उपन्यास में भी हम प्रेमचन्द की वे सब विशेषताएँ पाते हैं जिसके कारण वे लोकप्रिय हो सके हैं जैसे वर्णन की कुशलता, मनोवैज्ञानिक अध्ययन की प्रौढ़ता और कथोपकथन की स्वाभाविकता।

उनके अन्य उपन्यासों की भाँति अवांतर वस्तु और घटनाओं का घटाटोप इस उपन्यास में भी मिलेगा, परन्तु फिर भी हम वस्तु को अलग करके उसकी आलोचना कर सकते हैं।

सुवामा के पति सन्यासी हो गए हैं। वह पुत्र प्रताप के साथ किसी तरह दिन काटती है। पड़ोस में सुशीला है, उसके पति मुंशी जी, पुत्री विरजन ( वृजरानी )। विरजन और प्रताप में बालसुलभ मैत्री है। विरजन प्रताप को प्रश्नों में ढाँपे रहती है, उसकी पुस्तक पढ़ना चाहती है। सुवामा ने द्रव्याभाव के कारण महराजनि, कहार और महरी को जवाब दे दिया है, स्वयम् घर का सारा काम उठा कर बीमार पड़ जाती है। एक दिन प्रताप स्कूल से लौट कर आता है तो मूर्छित हो जाती है। प्रताप

विरजन को मा के पास बैठने को भेजता है, खुद डाक्टर को बुला लाता है। वृजरानी और उसकी माता दोनों सुश्रुषा के लिए उपस्थित रहती हैं। सुवामा वृजरानी को देखकर सोचती है कि यह प्रताप की बहू बने तो कैसा हो! विरजन तो अभी भोली बालिका ही है, परन्तु सोचती है कि जब प्रताप से मेरा विवाह हो जायगा तब मैं बड़े आनन्द से रहूँगी। ग़रज़ यह कि दोनों घराने स्नेह और प्रेम के सूत्रों में बंधे हुए हैं परन्तु दैव को कुछ और दिखाना था! डिप्टी श्यामाचरण की पत्नी प्रेमवती सुवामा से मिलने जाती हैं और वृजरानी को देखकर अपने लड़के कमलाचरण के लिए उससे बात ठीक कर लेती हैं। कहाँ निर्धन विधवा का पुत्र प्रताप, कहाँ डिप्टी का लड़का कमलाचरण! प्रताप की उठती वय थी, कौमार्य की अधखिली यौनभावना में ठीक-ठीक परिस्थिति तो नहीं समझता था, परन्तु उसने विरजन के यहाँ जाना ही छोड़ दिया, विवाह में कोई भाग नहीं लिया, यहाँ तक कि विवाह के पश्चात् मुंशी जी के घर को भी कतरा कर निकल जाता। परन्तु फिर ईर्षा बलवती हुई। कमलाचरण आवारा लड़का था—पढ़ता उसी स्कूल में था, जिसमें प्रताप। जब प्रताप स्कूल से लौटता तो कमलाचरण के दुराचरण की कोई कथा मा को उस समय ज़रूर सुनाता जब सुशीला ( वृजरानी की मा ) भी बैठी रहती। सोचता जिन लोगों ने मेरी स्वप्नवत भावनाओं को नाश किया है और मेरे जीवन की आशाओं को मिट्टी में मिलाया है, उन्हें मैं भी जलाऊँ और सुलगाऊँ। कमला-चरण की करतूतों को सुनते-सुनते सुशीला क्षयरोग में ग्रसित हो गई और अंत में उसकी मृत्यु हो गई।

विरजन गौने होकर ससुराल गई परन्तु साथ में प्रताप की दुखद स्मृति लेती गई। उसे पंदरहवाँ वर्ष लग रहा था—प्रताप-

चंद और विरजन अब तक भाई-बहन की तरह रहे थे, परन्तु अब दोनों ने हृदय टटोल कर देखा तो वहाँ 'प्रेम'' था। ससुराल आकर उसे आवारे, भीरु-हृदय कमलाचरण से वास्ता पड़ा परन्तु कोई भी पुरुष स्त्री की दृष्टि में गिरना नहीं चाहता—इसे कमलाचरण ने सँभल कर छात्रालय जाना शुरू किया और यह भी प्रतिज्ञा कर बैठा कि पतंग नहीं उड़ाऊँगा, कभी नहीं। विरजन ने क्रोध में आकर कमला के कंकौए फाड़ डाले थे और चर्खियाँ तोड़ डाली थीं—बात इतनी थी, परन्तु इस बात ने कमलाचरण की काया पलट कर दी।

इधर प्रताप प्रयाग पढ़ने चला गया। कर्तव्य और प्रेम के संघर्ष में कर्तव्य की विजय हुई। वहाँ विरजन का सब कुछ भुला कर पढ़ने में जी लगाने लगा और खेला कूदा तो इतना कि कप्तान बन बैठा। वही काम-काज में विरजन को भुला डालना चाहता था। उधर विरजन प्रेम और कर्तव्य के इसी संघर्ष में बीमार पड़ गई। प्रताप खेल रहा था कि बीमारी का तार मिला। चल पड़ा। विरजन भी प्रेमातुरा हो मिली। परन्तु दोनों ने कर्तव्य के बंधन को ही निभाना उचित समझा। प्रताप प्रयाग लौट गया। कमला और वृजरानी में दिन-रात प्रीति बढ़ने लगी। एक प्रेम का दास था, दूसरी कर्तव्य की दासी। कमला के सारे घन्टे उसी के प्रेम में बीतते। वह चित्रकार बन गया था। वृजरानी के कितने ही चित्र उसने बनाये थे।

तीन वर्ष बीत गये। नगर में प्लेग का प्रकोप हुआ। डिप्टी साहेब ने प्रताप को प्रयाग भेजना चाहा परन्तु वह राज़ी न हुआ। अंत में वृजरानी के आग्रह से जाने को तैयार हुआ। वह उधर प्रयाग गया इधर डिप्टी साहब अपने मोल लिये गाँव

मझगाँव में घर-गृहस्थी उठा लाये। यहाँ से विरजन ने कमला के नाम कितने ही सुन्दर पत्र लिखे।

प्रयाग में प्रताप की प्रतिभा की धूम मच रही थी, उसने कमलाचरण का आदर किया। परन्तु प्रतापचन्द कुछ भी करे, कमलाचरण पढ़ने की ओर कितना बढ़ सकता था। उसे सौन्दर्य वाटिका में रमण करने की चाट पड़ गई। धीरे-धीरे माली की कुँवारी लड़की सरयूदेवी से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया परन्तु एक दिन जब वह चोरी से माली के घर था, माली आ गया और कमलाचरण भागा। ट्राम से गिरते-गिरते बचा। गाड़ी पर बैठा तो टिकट लेना भूल गया और पकड़े जाने के डर से रेल से कूद कर जान ही दे दी।

विरजन का सुहाग जाता रहा। प्रेमवती (सास) के ताने ऊपर से सुनने पड़े। डिप्टी साहब भी इस शोक में चल बसे। प्रेमवती आधी पागल हो गई। एक दिन चल बसी।

इधर कमला की मृत्यु से प्रतापचंद्र की आकांक्षा सजीव हो उठी। उसने विरजन को पाना चाहा। दो बजे रेल से उतरा और पापी की भाँति लुकछिप कर घर में घुसा। अचानक एक बन्द दरवाज़े के दरारों से रोशनी छनती दिखाई दी। अंदर विरजन एक सफ़ेद साड़ी पहिने, बाल खोले, हाथ में लेखनी लिए, भूमि पर बैठी थी। अंत में उसके हृदय में प्रायश्चित का विचार उदय हुआ। उसी समय लौट पड़ा और भागा। इस पाप के प्रायश्चित का क्या रूप हो—प्रताप ने मार्ग पकड़ लिय वह देश की सेवा करेगा। यही उसका प्रायश्चित होगा। इधर प्रताप की मा (सुवामा) ने उसके लोप होने का समाचार सुना तो जैसे वज्रपात हो गया।

विरजन ने कविता लिखना शुरू कर दिया और थोड़े

ही समय में वह सुप्रसिद्ध कवियित्री हो गई। "भारतमहिला" के नाम से छपी उसकी कविताएँ जनता का कंठहार हो गईं। सुवामा के यहाँ उसका आना-जाना हो गया। बात यह थी उसके हृदय का अर्घ कविताओं के माध्यम से प्रताप पर ही चढ़ रहा था। इधर माधवी भी अज्ञात रूप से प्रताप पर मुग्ध थी।

एक दिन वृजरानी ने "कमला" का पैकेट खोला तो उसमें एक महात्मा का चित्र था—यही तो प्रताप हैं! नाम था "स्वामी-बालाजी" अब सबको पता लग गया कि प्रताप ने सन्यास ले लिया है। वृजरानी ने "बालाजी" के स्वागत में कविता लिखी—अंत में काशी-वालों के आग्रह से वह आये! निरजन के मन में फिर प्रेम और कर्तव्य का संघर्ष उठ खड़ा हुआ। "बालाजी" का महान स्वागत भूलने की चीज़ नहीं थी। परन्तु माधवी, वृजरानी और सुवामा तीनों इस त्यागी सन्यासी को लेकर अपने-अपने विचार में लगे थे। सुवामा मा है, चाहती है कि प्रताप वैराग्य त्याग दे, सन्यासीवेश में पुत्र को देखकर उसे दुःख होता है। चाहती है कि वह माधवी को लेकर घर बसाये। उसे १२ वर्ष प्रतीक्षा में ही हो गये हैं। वृजरानी भी त्याग के लिए आगे आती है और माधवी को प्रताप के परिणयसूत्र में बाँधना चाहती है। वह माधवी को सन्यासी प्रताप के शयनागार में भेजती है। प्रताप सो रहे हैं। अकस्मात् लालटेन उलटने से आग लग जाती है। बातों-बातों में प्रताप पर माधवी के गुप्त परिणय का पता लग जाता है—

"क्यों माधवी! तुम्हारा विवाह तो हो गया है न?"

माधवी के कलेजे में कटारी चुभ गई। सजल नेत्र होकर बोली—हाँ हो गया है।

बालाजी—और तुम्हारे पति?

माधवी—उन्हें मेरी कुछ सुध ही नहीं। उनका विवाह मुझसे नहीं हुआ?

बालाजी विस्मित होकर बोले—तुम्हारा पति करता क्या है?

माधवी—देश की सेवा।

बालाजी की आँखों के सामने से एक पर्दा-सा हट गया। वे माधवी का मनोरथ जान गये और बोले—माधवी, इस विवाह को कितने दिन हुए?

माधवी—मुझे कुछ स्मरण नहीं। बहुत दिन हुये।

बालाजी के नेत्र सजल हो गये।

वे सन्यास और वैराग्य को उसके संयम पर न्यौछावर करने को तैयार हो जाते हैं परन्तु माधवी उन्हें सांसारिक बन्धनों में डालना नहीं चाहती। वह भी वैरागिनी बनेगी, भभूति रमाएगी।

दूसरे दिन गोशाला का शिलारोपण हो रहा था। लोग बाला जी की जय पुकारते थे। परन्तु यहाँ कुछ लोग शास्त्रार्थ के लिए तैयार! ज़बानी शास्त्रार्थ नहीं, लाठियों और सङ्गीनों से मुड़भेड़ थी। परन्तु बालाजी के व्याख्यान से समूह शांत हो गया। घर पहुँचे तो समाचार मिला, सदिया में नदी का बाँध फट गया है, दस सहस्र मनुष्य गृहहीन हो गये, प्रलय का राज्य है। सारी मोहममता को छोड़ प्रताप ( बालाजी ) वहाँ चलने लगे।

वरदान के सम्बन्ध में हम पीछे कह चुके हैं कि यह प्रेमचन्द की प्रारम्भिक रचना है। आगे जो कहेंगे, उससे इस बात की पुष्टि ही होगी।

इस उपन्यास की विशेषता है इसकी कथावस्तु। कथावस्तु की रोचकता और वर्णन-शैली इन्हीं दो वस्तुओं पर लेखक का ध्यान अधिक है। कथावस्तु एक ही है, प्रधान है, प्रासङ्गिक कथा-वस्तु को इसमें स्थान नहीं मिला है। वरदान, प्रतिज्ञा और

निर्मला—इन तीनों सामाजिक उपन्यासों में प्रेमचंद ने अधिकारी कथावस्तु ही हमें दी है। बड़े उपन्यासों में उनका क्षेत्र विस्तृत था, वे जीवन के अनेक पार्श्वों को एक ही साथ उलट पुलट कर देखना चाहते हैं, अतः वहाँ अधिकारी कथावस्तु के साथ एक, दो या कई प्रासङ्गिक वस्तुएँ डाले बिना काम नहीं चल सकता। जहाँ उनका लक्ष्य अपेक्षाकृत सीमित है, वहाँ उनकी नज़र बँधी है, वहाँ प्रेमचन्द की क़लम कई कथावस्तुओं को साथ साथ चलाने को तिलिस्मी जौहर नहीं दिखाती।

कथा को समाप्त करके हम पात्रों की रूप रेखा स्थिर करने लगते हैं, तो हमें प्रताप, विरजन और माधवी यही तीन पात्र प्रधान लगते हैं। कथा का तीव्र प्रवाह हमें इतने वेग से बहा ले जाता है कि हम चरित्रों की विशेषता को पूर्णतः प्रस्फुटित होते नहीं पाते—उनकी रूप-रेखायें दबी ही रहती हैं, उभरती नहीं।

प्रताप एक दुर्बल मनोवृत्ति का युवक है जो पहले तो यह नहीं जानता कि वह विरजन को किस रूप में चाहता है—बहिन या पत्नी; फिर जानने पर भागना चाहता है। विरजन के पति आवारे कमलाचरण के प्रति उसका द्वेष इस रूप में निकलता है कि वह उसकी बुराइयों का बिगुल उसकी मां सुशीला के सामने बराबर बजाता है और उसके मन पर विरजन के दुर्भाग्य की छाप बिठा देता है। परन्तु जब सुशीला घुलघुल कर मर जाती है, तो उसमें प्रतिक्रिया होती है—वही न उसकी मृत्यु का कारण है; उसकी आत्मग्लानि उसे सब कुछ भूल कर पहले और खेल में लगाती है। वह कर्मठ युवा बनना चाहता है। आगे के सन्यासी-कर्मयोगी जीवन के लिए इस प्रकार भूमि तैयार होती है। फिर कमलाचरण की मृत्यु के बाद उसकी दुर्बलताएँ उस पर विजय पा लेती हैं। परन्तु आत्मा, जैसे पीछे कहा है, भीरु

है, सङ्कोची है, अतः प्रतिक्रिया होना आवश्यक है—प्रेमचन्द ने ही इस दुर्बलता की बात लिख दी है—

"धर्म ने इस समय प्रताप को उस खड्डे में गिरने से बचा लिया, जहाँ से आमरण उसे निकलने का सौभाग्य न होता, वरन् यह कहना उचित होगा कि पाप के खड्डे से बचाने वाला इस समय धर्म न था वरन् दुष्परिणाम का और लज्जा का भय था।"

इस दुर्बलता ने उसे प्रायश्चित की आग में तपा कर सोना बना लिया। जनसेवी हो गया—शायद संस्कारवश, क्योंकि उसका पिता भी सन्यासी हो गया था। पात्र के बदलने की प्रक्रिया प्रेमचन्द ने नहीं दी है उसका संकेत ही है। हम प्रताप के आत्म-संघर्ष को नहीं देखते—उसे पूर्ण मानव के रूप में पाते हैं। वह घर-बार के मोह को छोड़कर सन्यासीवेश में उपद्रव करने पर उतारू भीड़ को किस शक्ति, किस तेज के साथ शांत करता है। हमारा माथा झुक जाता है। उसके भीतर की भयंकर भूचाल से हिलती पृथ्वी प्रेमचन्द ने उस समय दिखला दी है जब वह सदिया जाने लगा है। परन्तु वह नीचे नहीं उतरता। उसका पतन असंभव है।

उधर विरजन ( वृजरानी ) है। प्रताप से बचपन का प्रेम है, किशोरी है, इससे पहले नहीं समझती परन्तु जब समझती है ( विवाह हो जाने के बाद ) तो समाज की मान्यताओं से उसके हाथ बंधे हैं। वह मुड़ नहीं सकती। पत्नी है। उसे किसी को अपनी देह देनी होगी, मन, आत्मा, सभी—इसी से वह कर्तव्य और प्रेम के संघर्ष में पड़ कर अंत में कर्तव्य को अपनाती है। इस कर्तव्य-पथ पर वह अडिग है। प्रेमचन्द ने विरजन में आदर्श भारतीय नारी का चित्रण किया है और वह प्रत्येक प्रकार से सफल है। यह दूसरी बात है कि उन्होंने उसके सामने

से प्रलोभन हटा लिये—यदि रहते तो उसकी कड़ी परीक्षा हो जाती। अंत में प्रताप के प्रति माधवी की निष्ठा देखकर वह दोनों में परिणय-ग्रन्थि स्थापित करने का जो प्रयत्न करती है, वह उसके त्याग को और भी चमका देता है।

दोनों के बीच में माधवी है। प्रताप और विरजन की कथा आपमें पूर्ण है, माधवी न होती, तो वह अधूरी नहीं रह जाती परन्तु प्रेमचन्द पर भारतीय नारी के त्याग का शुरू से ही अत्यन्त महान प्रभाव था। विरजन में वे उसे पूर्णतः स्पष्ट नहीं कर सके तब उन्होंने माधवी को लिया। परन्तु इसी के कारण माधवी का चरित्र कुछ अस्पष्ट भी हो गया। हमारे देश में प्रेम-कथाएँ 'पूर्वराग' को लेकर खड़ी की जाती हैं—नायिका नायक का चित्र देखकर, या उसे ही देखकर या उसकी प्रशंसा सुनकर उस पर मोहित हो जाती है। फिर मिलन होता है। कुछ इसी प्रकार की परिस्थिति माधवी के संबन्ध में है। बहुत दूर तक तो यह पता ही नहीं चलता कि माधवी को प्रताप में इतनी दिलचस्पी क्यों है परंतु फिर प्रेमचन्द पूर्व कथा की झाकी देकर इस "पूर्वराग" को हमारे सामने खोल देते हैं:—

"कुछ काल और बीता, यौवन काल का उदय हुआ। विरजन ने उसके चित्त पर प्रतापचन्द का चित्र खींचना आरम्भ किया। उन दिनों इस चर्चा के अतिरिक्त उसे कोई बात अच्छी ही न लगती थी। निदान उसके हृदय से प्रतापचन्द की चेरी बनने की इच्छा उत्पन्न हुई। पड़े-पड़े हृदय से बातें किया करती। रात्रि में जागरण करके मन का मोदक खाती। इन विचारों से चित्त पर एक उन्माद-सा हो जाता, किन्तु प्रतापचन्द इसी बीच में गुप्त हो गये और उसी मिट्टी के घरौंदे की भाँति ये हवाई किले भी ढह गये। आशा के स्थान पर हृदय में शोक रह गया।

अब निराशा ने उसके हृदय में आशा का स्थान ही शेष न रक्खा। वह देवताओं की उपासना करने लगी कि प्रतापचन्द पर समय की कुदृष्टि न पड़ने पावे। इस प्रकार अपने जीवन के कई वर्ष उसने तपस्विनी बनकर व्यतीत किये। कल्पित प्रेम के उल्लास में चूर रहती ××।

(वरदान, पृ० २०८, २०६)

इस प्रकार का प्रेम का आदर्श चाहे जितना ऊँचा समझा जाये वह भ्रांतिपूर्ण है, इस जगत का नहीं है। इस काल्पनिक प्रेम के सम्बन्ध में जब हम यह सुनते हैं कि १२ वर्ष तक माधवी प्रतीक्षा करती रही तो हमारा मन उतने दुःख से नहीं भरता जितना विरजन की बात सोचकर या साकेत की "उर्मिला" की। बात यह है कि इस प्रकार के लम्बे प्रतीक्षा काल के पीछे परिणय की सार्थकता तो है, परस्पर परिचय तो हो। इसी से माधवी जब अवसर मिलने पर भी बालाजी (प्रताप) को ग्रहण नहीं करती।

प्रताप कहते हैं—"जिसके लिये तुमने अपने को मिटा दिया है, वह तुम्हारे लिये बड़े से बड़ा बलिदान करने से भी नहीं हिचकिचायेगा।"

माधवी कहती है—×× मेरे प्रेम का उद्देश्य वही था जो उसे आज प्राप्त हो गया। आज का दिन मेरे जीवन का सब से शुभ दिन है। आज मैं अपने प्राणनाथ के सम्मुख खड़ी हूँ और अपने कानों से उनकी अमृतमयी वाणी सुन रही हूँ। स्वामी जी! मुझे आशा न थी कि इस जीवन में मुझे यह दिन देखने का सौभाग्य प्राप्त होगा। यदि मेरे पास संसार का राज्य होता तो मैं इस आनन्द में उसे आपके चरणों में समर्पण कर देती। मैं हाथ जोड़ कर आपसे प्रार्थना करती हूँ कि मुझे इन चरणों

से अलग न कीजियेगा, मैं सन्यास ले लूँगी और आपके संग रहूँगी, तो हमें उसके थोथे आदर्शवाद पर जीवन के प्रति करुणा उत्पन्न होती है। इस प्रकार श्रवण मात्र से उत्पन्न हुए प्रेम को त्याग की इतनी ऊँची कसौटी तक कसना, पाठक के धैर्य्य की परीक्षा करना है।

जैसा ऊपर की पंक्तियों से प्रगट होगा, प्रेमचन्द के इस उपन्यास के तीनों प्रधान पात्रों का जीवन-सूत्र स्वयम् उनके आदर्शवाद के हाथ में है। लेखक परदे के पीछे छिपा बैठा है, वह साधारण पढ़ी लिखी वृजरानी से कविता कराने लगता है, इतनी ऊँची कि पश्चिम के समालोचक और कवि भी विभोर हो उठते हैं, जहाँ चाहता है मृत्यु का परदा खींच कर करुणाजनक परिस्थिति उत्पन्न कर देता है। प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों की तरह इसके पूर्वार्द्ध में नायक की दुर्बलताओं का चित्रण है और उत्तरार्द्ध में उसे पहुँच के बाहर देवता बना दिया गया है।

परन्तु इन आदर्श प्राण पात्रों से हटकर जब हमारी दृष्टि अभागे कमलाचरण पर जाती है और हम उसे वास्तव में परिस्थितियों का शिकार पाते हैं, तो हमारी सहानुभूति उसी की ओर अधिक गहनता से उमड़ने लगती है। प्रेमचन्द के विशेष सहानुभूति से उसका चित्रण नहीं किया परन्तु पाठकों की सारी सहानुभूति उसी पर जाती है। यदि उसका जीवन समाप्त न होता तो प्रेमचन्द कथा की परिणिति इस आदर्शवादी परिस्थिति में न कर पाते। तब क्या उन्होंने कमलाचरण को इतनी शीघ्रता से हटा कर उसके साथ विश्वाघात किया है—यह प्रश्न आता है। जीवन में हम देखते हैं तो ऐसे अभागे पात्रों की कमी नहीं है परन्तु वे हमारी सहानुभूति के ही पात्र हैं।

कथासंगठन और चरित्र-चित्रण दोनों की दृष्टि से 'वरदान'

असफल उपन्यास ही कहा जायगा। जिस प्रकार की प्रेम कहानियों की धूम उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों और बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में थी, उनसे यह उपन्यास ज़रा भी भिन्न नहीं है। कथासंगठन शिथिल है और उसमें कलात्मकता को विशेष स्थान नहीं मिल सका है। स्वयं कथा इतनी लंबी है कि पाठक ऊब जाता है। न कथारस का विकास ही संभव है, न चरित्र-चित्रण का। सामाजिक बाधाओं के कारण एक युवक और युवती का प्रेम विवाह-सूत्र में परिणित नहीं हो सकता। युवक सन्यासी बन जाता है, युवती एक दुश्चरित्र तरुण (कमलाशंकर) से विवाह दी जाती है। यह एक साधारण प्रेम-कहानी हुई। परन्तु विवाह के बाद युवती के मानसिक संघर्ष का चित्रण आवश्यक था। 'वरदान' की वृजरानी (विरजन) में इस प्रकार का मानसिक संघर्ष अधिक नहीं है। वह प्रताप को भूलकर कमला को ही प्यार करने लगती है और मन-वचन-कर्म से उसकी ही हो जाती है। इतना परिवर्तन कैसे संभव हुआ, उपन्यासकार इस संबंध में मौन है। इस परिवर्तन के लिए वह मनोवैज्ञानिक भूमि तैयार नहीं कर पाता।

फिर वृजरानी, प्रताप और कमलाशंकर को लेकर प्रेम का एक त्रिकोण बन ही गया था, उसमें माधवी को लाने की आवश्यकता न थी। वृजरानी प्रताप (अब बालाजी) को माधवी को सौंपना चाहती है। यह उसका महान त्याग है। परन्तु इस त्याग के बिना भी वह महान बनी रहती। हाँ, बालाजी जिस प्रकार माधवी से कुछ ही क्षणों की भेंट में विवाह को तैयार हो जाते हैं, उस प्रकार उनके चरित्र का पतन ही दिखलाई देता है। यद्यपि अंत में प्रताप (बालाजी) इस पतन से बच जाते हैं,

वह बाढ़ का समाचार सुनकर जन-सेवा का पथ ग्रहण कर लेते हैं, परन्तु चारित्रिक स्खलन तो है ही। जो हो, यह निश्चित है कि माधवी के कारण कथा में शिथिलता आ गई है। 'देवदास' में पार्वती, देवदास और यमुना को लेकर जितना सुगठित कथानक शरतचन्द्र ने गढ़ा है, उसका दशांश भी 'वरदान' में नहीं है।

परन्तु इस पहले ही उपन्यास में प्रेमचन्दजी की कथासंगठन-सम्बन्धी कई विशेषताएँ प्रगट हो जाती हैं। उनके पात्र अधिकांश दुर्बलचरित्र हैं और प्रेम में असफल होने पर वह समाजसेवा या राजनीति के क्षेत्र में उतरते हैं। इस क्षेत्र में वह इतनी प्रसिद्धि पा लेते हैं कि वह देवतुल्य हो जाते हैं। धीरे-धीरे जन-सेवा के प्रति उनकी आसक्ति ही सर्वोपरि हो जाती है और उनकी प्रेमपात्रियाँ उन्हें देवता मानकर संतुष्ट हो जाती हैं। शरतचन्द्र के 'देवदास' और अन्य उपन्यासों में असफल प्रेम नायक को आवारा और आत्मघाती बना देता है। प्रेमचन्द ने असफल प्रेम का समाजसेवा और राजनीति-निष्ठा में पर्यावसान किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं है। परन्तु समाजहित की दृष्टि से समस्या का प्रेमचन्द द्वारा उपस्थित किया हल अधिक स्वच्छ है।

एक और बात जो प्रेमचन्द के पहले उपन्यास में स्पष्ट है वह है उनका आदर्शवादी दृष्टिकोण। इसी आदर्शवाद के फलस्वरूप वह विरजन और प्रताप को कमलाशंकर के मरने पर भी अलग-अलग रखते हैं। परन्तु इस प्रकार का अमनोवैज्ञानिक आदर्शवाद परिहास की वस्तु बन जाता है। देवता बनाते-बनाते प्रेमचन्द अपने नायक को उपहासात्मक दुर्बल मनुष्य ही बना डालते हैं।

सच तो यह है कि प्रेमचन्द के इस पहले उपन्यास में भाषा के अतिरिक्त नया कुछ भी नहीं है। शरद और रवींद्र की

प्रारम्भिक और अंतिम रचनाओं में उतना अंतर नहीं है जितना वरदान ( १६०२ ) और गोदान ( १६३६ ) में। अनेक प्रकार के घटनाचक्र ( Coincidence ), अनेक प्रकार की टेकनिक की गलतियाँ, बहुत तरह की अतिश्योक्तियाँ और भूलें 'वरदान' को प्रेमचन्द की रचनाओं में नगण्य बनाती हैं। न तो इलाहाबाद में ट्राम चलती है, न कोई थानेदार एक ही रस्सी में सारे गाँव को बाँध लाता है। इस तरह की बातें लेखक का शैशवकाल ही सूचित करती हैं।

———

४

## प्रतिज्ञा ( प्रेमा, १९०५ )

प्रतिज्ञा प्रेमा का परिवर्द्धित रूप है जो पहले उर्दू में "हम खुर्मा व हम कबाब" नाम से प्रकाशित हुआ था। रचना १९०५ के लगभग की है। इसकी समस्या भी विधवा-विवाह है; परन्तु वास्तव में इसे यथार्थवादी सामाजिक व्यङ्ग कहा जा सकता है।

अमृतराय और दाननाथ मित्र हैं। अमृतराय वकील हैं, दाननाथ प्रोफेसर। एक दिन नगर के समाज़-सुधारक पं० अमरनाथ ने विधवाविवाह के पक्ष में एक व्याख्यान दिया। जब पंडितजी ने उन साहसी युवकों को हाथ उठाने को कहा जो विधवाओं के प्रति अपने कर्तव्यों के पालन के लिये तैयार हैं तो केवल अमृतराय निकले! इतने रंडवों में एक साहसी युवक! अमृतराय प्रेमा से प्रेम करते हैं, वह भी इन्हें मँगेतर की तरह मानती है, परन्तु अब अमृतराय उससे विवाह के लिए तैयार नहीं। वे सिद्धांतवादी आदमी थे। धुन के पक्के। पहली शादी उस वक्त हुई थी जब वे कालेज में पढ़ते थे, एक पुत्र भी हुआ, परन्तु प्रसवकाल में दोनों चल बसे। फिर अमृतराय ने विवाह नहीं किया। छोटी साली प्रेमा के लिए ससुर ने आग्रह किया। अमृत उसके रूप-गुण पर मोहित हो गये। परन्तु अब यह

प्रतिज्ञा! इधर दाननाथ आप ही प्रेमा को प्रेम करते हैं। अमृतराय इसको जानते थे और उन्हें मित्र के रास्ते से हटने का मौक़ा मिला। वे अविवाहित थे। दाननाथ प्रसन्न तो हुये परंतु वे मित्र को निराशा की भेंट न होने देंगे।

बद्रीप्रसाद (प्रेमा के पिता) ने यह बात सुनी तो बिगड़े। इस लड़के में और मुसलमान में अंतर क्या है? ऐसे विचार! अब प्रेमा चाहे मर जायें, वे न झुकेंगे। उन्हें अमृत से कोई वास्ता नहीं। प्रेमा परिस्थिति समझ कर बलिदान को तैयार हो जाती है। मां दूसरे वर के लिए तैयार है—हाय, उसे विवाह का स्वांग रचना होगा। कितना रोमांचकारी?

पूर्णिमा (पूर्णा) पं० बसंतकुमार की सुन्दर पत्नी है। बद्रीप्रसाद के पड़ोस में रहती है। प्रेमा और पूर्णा में बड़ा प्रेम है। प्रेमा उसे अपने विवाह न करने की प्रतिज्ञा सुनाती है। होली का दिन है, पं० बसंतकुमार गंगा नहाने जाते हैं कि डूब जाते हैं। पूर्णा विधवा हो जाती है। बद्रीप्रसाद भले आदमी हैं। पूर्णा के मैके में कोई नहीं। अतः उसे रख लेते हैं। घर-बेटी की तरह। वे उसके नाम ४०००) बैंक में रखना चाहते हैं जिससे वह सूद में पलती रहे, परन्तु बेटा कमलाप्रसाद कूटनीति से बात बिगाड़ता है। उसका विवाह हो चुका है। पत्नी सुमित्रा है। परन्तु वह बाहर-बाहर रहता है। उसके मन में पूर्णा के प्रति वासना के बीज अंकुरित हो रहे हैं। वह पूर्णा को घर चल कर रहने की अनुनय-विनय करता है और वह वहीं जाकर रहने लगती है।

देवकी (कमला की मा) को पूर्णा का यहाँ रहना अच्छा नहीं लगा और सुमित्रा पूर्णा से जलती है। सुमित्रा और कमला में पटती नहीं। कमला रात-रात भर ग़ायब रहता है। पहले

ही दिन सुमित्रा पूर्णा से कमला की कठोर हृदयता का रोना रो देती है।

इधर बद्रीप्रसाद ने दाननाथ को प्रेमा के विवाह का संदेश भेजा। उन्होंने अमृतराय को टटोला। परन्तु यहाँ अमृतराय खुद स्वीकृति का पत्र लिखकर उनका दस्तखत ले बद्रीप्रसाद के पास भेज देते हैं। बद्रीप्रसाद ने पत्र अमृतराय के हाथ से लिखा देखकर क्रोध तो किया, परन्तु पत्नी के कहने से अपमान पी गये। अतः विरोध से झुलसी हुई प्रेमा का विवाह दीनानाथ से हो गया।

वहाँ अमृतराय विधवाश्रम (वनिताश्रम) खोल रहे हैं।

यहाँ पूर्णा और सुमित्रा दुःखानुभूति और सहानुभूति की डोरियों से बँध गईं, परन्तु कमला को यह भी अच्छा न लगा। वे प्रेमा को भाँति-भाँति के उपहार देने लगे। परन्तु सुमित्रा के हृदय में एक दिन रेशमी साड़ियों की घटना लेकर संदेह किसी हिंसक पशु की भाँति आरूढ़ हो गया। इसी बात से पति-पत्नी में मनसुटाव हो गया। इस बारह दिन दोनों अलग-अलग रहे। अंत में एक दिन हार कर सुमित्रा रात में कमला के कमरे की तरफ चली। मान टूट गया पर जा न सकी। सुमित्रा देख रही थी, वह खुद कमला के पास पहुँची। परन्तु यहाँ तो अपने ही हाथ हवन करते हैं। काम-वासना से उद्दीप्त हो कमला उसकी ओर बढ़ा, परन्तु पूर्णा के क्रोध ने उसे शांत का दिया। फिर भी उसके आग्रह पर उसे साड़ी पहननी ही पड़ी। पूर्णा का मन द्वन्दों से भर उठा, परन्तु अंत में उसका सती तेज जल उठा। वह इस वासना के चंगुल में आने वाली नहीं।

प्रेमा ने आकर घर सहेज लिया। अमृतराय अब उसके लिए स्वप्न थे। परन्तु दाननाथ को शङ्का बनी रही कि इसे

अमृत से ही प्रेम है। परन्तु एक दिन जब प्रेमा ने अमृतराय के चरित्र के ऊपर आक्षेप होते देख उसकी तरफ़दारी की, तो ग़ज़ब हो गया। क्या वह देवता कन्हैया बनने के लिए वनिताश्रम सजाये है। परन्तु हार कर भी दाननाथ नहीं हारे। वे अमृतराय के विरोध में व्याख्यान देने लगे—"सनातन धर्म पर आघात।" दूसरे दिन अमृतराय आये, परन्तु दोनों अब दो राहों पर थे। कमला, बद्रीप्रसाद, दाननाथ एक तरफ़—अमृत दूसरी तरफ़। प्रेमा किस तरफ़ है ?

एक दिन अमृत का व्याख्यान होने वाला है। कमला दंगा कराना चाहता है। प्रेमा को डर है। वह भी सास के साथ जायगी। दङ्गा हो ही गया। परन्तु प्रेमा ने मंच पर पहुँचकर सबको चकित और शांत कर दिया। अब अमृतराय को अपनी भूल पर, सिद्धांतवाद पर पछताना पड़ा।

एक दिन सुमित्रा और पूर्णा बातें कर रही थीं, कमला ने अचकन माँगी। सुमित्रा ने नहीं दी—खुद निकाल लें, पैर में मेंहदी लगी है। इसी समय कमला आकर उलझ गया। परन्तु हार खा कर, उस तेजस्वी नारी के सामने से उलटे पाँव लौटना पड़ा। सुमित्रा जानती थी यह अंधड़ उसी को घेर कर आ रहा है। वह कमला से साफ़ कह देगी कि वह इस घर में नहीं रह सकती। रात को उसके कमरे में गई। कमला के आँसुओं ने उसे पिघला दिया। वह भूमि पर बैठकर फूट फूट कर रोने लगी। परन्तु कमला था एक छटा बदमाश—वह मनाता है! उसने खूँटी से तलवार उतार ली और जब तक सुमित्रा शांत न हो गई, आत्महत्या की धमकी देता रहा। वह इस विधवा का उद्धार करेगा—वह टट्टी की आड़ में शिकार नहीं करेगा। सुमित्रा से तो उसका मन ही नहीं मिला। वह शिकारी के सभी प्रलोभन

देता है। परन्तु सुमित्रा निकल जाती है। दूसरे दिन सुमित्रा आकर साफ़-साफ़ कह देती है कि वह इस घर में नहीं रह सकती। वह यह लुक छिप कर मिलना नहीं देख सकती। वह रात सब देख आई हैं। पूर्णा उससे क्षमा माँगती है।

परन्तु कमला पत्र लिए आया कि प्रेमा ने बुलाया है और आग्रह से ले भी गया। जब पूर्णा ने ताँगे पर बैठकर देखा कि कोचवान नहीं, रास कमला के हाथ में है, तो डरी। वह उसे अपरिचित रास्तों से ले गया शहर के बाहर, एक निर्जन बगीचे में। कमला पुरुष बनना चाहता है। वह जिसे चाहता है याचना से नहीं लेगा। वह चाहता है, पूर्णा यहीं रहे, उसके वृन्दावन जाने की बात उड़ा दी जाय। परंतु जब वह अर्द्धचेतन दशा में पड़ी पूर्णा पर बलात्कार करने जा रहा है तो उसकी सब प्रवृत्तियाँ उत्तेजित हो आती हैं—पूर्णा ने कुर्सी खेंच ली और कमला पर प्रहार किया। कमला मूर्च्छित लहूलुहान गिर पड़ा। जब संध्या हो गई, अंधेरा हो चला तो वह बाहर निकली और गङ्गा में डूबने जाने लगी। जिस बुड्ढे से उसने रास्ता पूछा, उसने दया कर उसका हाल पूछ कर उसे अमृतराय के आश्रम में चलने को कहा परंतु पूर्णा अमृतराय के सामने नहीं पड़ना चाहती थी। ख़ैर, वह वहीं चली गई।

कमला के मुँह और छाती में चोट लगी और एक दांत टूट गया। थोड़ी देर में ही सारे नगर में उनकी चर्चा हो रही थी। कमला पूर्णा के दुराचरण की बात बनाकर निकल जाना चाहता है; परंतु बद्रीप्रसाद सब भेद खोल देते हैं—इस दुष्ट को शर्म भी नहीं आती। यही अमृतराय जैसे साधु पर इलज़ाम लगाया चाहता है। उस दिन से प्रथम प्रेम-प्रपंच में असफल कमला ने पिता से बात भी न की। जनता की दृष्टि में कमलाप्रसाद और

दाननाथ अभिन्न थे, अतः दाननाथ ग्लानि से भर गये। परंतु पूर्णा भवन पहुँच गई है यह समाचार सुनाकर जैसे दाननाथ अब भी प्रेमा की परीक्षा करना चाहते हैं। अब वे बगुला भगत (अमृतराय) की खूब खबर लेंगे। प्रेमा ने पति को श्रद्धा की दृष्टि से देखा।

यहाँ जनता दाननाथ से बिगड़ रही थी, कालिज के लड़कों ने उनको लज्जित किया, उनका जी छूट गया। सच्चाई छिपी न रह सकी। उन्होंने तीन महीनों की छुट्टी ले ली। प्रेमा से उन्होंने इस बदनामी की चर्चा की। भीतर ही भीतर घुटने लगे। एक दिन सुमित्रा आई तो पता चला बदनामी के बाद से कमला रास्ते पर आ गया है। अब वही उनकी आँखों का तारा है—लाला बद्रीप्रसाद दोनों को देहात भेज रहे हैं।

अमृतराय ने एक लेख लिखकर दाननाथ को जनता की दृष्टि में उठा दिया। सुलह हो गई—परन्तु क्यों उसने यह लेख लिखा? अंत में दोनों मित्रों का मनमुटाव समाप्त हो गया तो दाननाथ ने स्पष्ट कह दिया—

"× × न जाने क्यों शादी होते ही मैं शक्की हो गया? मुझे बात-बात पर संदेह होता था कि प्रेमा मन में मेरी उपेक्षा करती है। सच पूछो तो मैंने उसको जलाने और सुलाने के लिए ही तुम्हारी निन्दा शुरू की। मेरा दिल तुम्हारी तरफ़ से हमेशा साफ रहा" (१६६)

अमृतराय ने उन्हें आश्रम की सैर कराई। पूर्णा ने पीपल के नीचे कृष्ण मंदिर की स्थापना की है। वह भक्त हो गई है। वह अपनी सारी आत्मग्लानि भगवान के चरणों पर रख कर शांत हैं।

जब वे बजरे में उन्हें लौटा रहे थे, तो दाननाथ के आग्रह पर अमृत ने बताया कि वे विवाह कर चुके—वनिताश्रम के साथ। यों उनकी प्रतिज्ञा पूरी हुई परंतु वनिताश्रम के साथ? या पूर्णा के साथ? दाननाथ हार गए—प्रेमा की उपासना छोड़ने का अर्थ ही यह था कि वे विवाह न करेंगे। उन्होंने वज्राहत स्वर में कहा—"भैया! तुमने मुझे धोका दिया!"

'प्रतिज्ञा' की कथावस्तु और रचना-कौशल उसे एकदम प्रेमचंद के प्रौढ़ उपन्यासों में रख देते हैं, परंतु वास्तव में यह प्रेमचंद के दूसरे उपन्यास 'प्रेमा' का ही परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप है। इस उपन्यास की कथावस्तु प्रेमचंद द्वारा लिखी जाकर चार रूपों में हमारे सामने आता है–तीन रूप हिन्दी के हैं, एक उर्दू का। 'प्रेमा', 'विभव', 'हम खुर्मा व हम कबाब', और 'प्रतिज्ञा' वास्तव में एक ही चीज़ हैं। 'प्रेमा' उसी वर्ष (१९०४-५) प्रकाशित हुआ जिस वर्ष शिवरानी देवी से प्रेमचंद का विवाह हुआ। इसी वर्ष फाल्गुन में उनकी शादी हुई थी। 'प्रेमचंद घर में' संस्मरण पुस्तक में शिवरानी देवी ने उन दिनों उनके चुस्ती से बैठकर लिखने और क़लम को मज़दूरों के फावड़े की तरह तेज़ चलाने की बात कही है। तब कदाचित वह 'प्रेमा' ही लिख रहे थे। चार बार उन्होंने उसे सुधारा और अंत में 'प्रतिज्ञा' रूप देकर वह अवश्य संतोष पा गये होंगे।

'वरदान' की तरह प्रतिज्ञा का कथानक भी प्रेम है। परन्तु इस प्रेम के साथ विधवा की समस्या जुड़ी हुई है। प्रेमचंद का पारिवारिक (वैवाहिक कहना अधिक ठीक होगा) जीवन संतोषजनक नहीं था। अपनी विवाहिता पत्नी को वे सदैव के लिए छोड़ने का प्रण कर चुके थे। वे इस ववाह को विवाह ही नहीं

समझते थे। उनके चाचा जी ने बे-देखी, बे-सुनी लड़की उनके गले डाल दी थी। फिर पत्नी का स्वभाव भी उनके स्वभाव से नहीं मिलता था। प्रेमचंद ने इस वैवाहिक विडंबना का हल यही सोचा कि वह पत्नी को मायके भेज दें और उसे मासिक रुपया भेज कर अपनी जिम्मेदारी से छुट्टी ले लें। परन्तु सारा जीवन तो इस तरह चला नहीं जाता। दूसरे विवाह की समस्या साथ आई और मन तर्क वितर्क करने लगा। विधवा-विवाह करें या न करें, न करें तो फिर विधवा के लिए सतीत्व बनाये रखने का रास्ता ही समाज में कहाँ है। पूर्णिमा के रूप में उन्होंने हिन्दू समाज को चुनौती दी। उपन्यास के अंत में 'वनिताश्रम' की स्थापना करके इस समस्या का उन्होंने हल करा दिया। विधवाओं के लिए आश्रम खोले जायें, वहाँ वे जीविकोपार्जन के उपयोगी साधन सीखें और मर्यादापूर्ण जीवन व्यतीत करें। ऋषभचरण जैन, चतुरसेन शास्त्री और 'उग्र' के उपन्यासों में इस विधवाश्रमों की जितनी पोल खोली गई है, उससे हिन्दी के पाठक परिचित हैं। वास्तव में जहाँ आमूल सामाजिक क्रांति की आवश्यकता है, वहाँ इस तरह के समझौते बहुत दूर नहीं जाते। आज हम जानते हैं कि विधवा की समस्या के साथ नारी के अधिकार, शिक्षा-दीक्षा, परिवार और धनोपार्जन की सारी समस्याएँ ही जुड़ी हुई हैं।

परन्तु समस्या का कोई हल प्रेमचंद ने न सुझाया हो, या उनका सुझाव शिथिल हो—इसमें संदेह नहीं। इस उपन्यास में उन्होंने आदर्शवादी चोला उतार फेंका है और कम के कम कथानक और चरित्र-चित्रण में वे पूर्णतः वस्तुवादी हैं। इस उपन्यास का खलनायक कमलाशंकर बहुत ही दुर्बल चरित्र व्यक्ति है और वह अपनी आश्रिता पूर्णा को अपने अधिकार में करने के लिए छल-बल से नहीं चूकता। नगर के बाहर उसे लेजा कर

वह बलात्कार के लिए भी तैयार है, परन्तु पूर्णिमा कुर्सी उठाक
उसके सिर पर दे मारती है, उसके दाँत टूट जाते हैं और व
बेहोश हो जाता है। आदर्शवादी प्रेमचंद ऐसे दुश्चरित्र पात्र
प्रधानता नहीं देते, परन्तु जिन दिनों वह इस कहानी को 'प्रतिज्ञ
के रूप में अंतिम आवृत्ति दे रहे थे, उस समय वे वस्तुवाद
ओर ही तीव्रता से बढ़ रहे थे। 'गोदान' और 'कफ़न' इस
प्रमाण हैं।

जो हो, यह निश्चित है कि कथा-संगठन, चरित्र-चित्रण औ
भावों के उत्थान-पतन की दृष्टि से यह छोटा उपन्यास साधार
कथा-श्रेणी का अतिक्रमण कर जाता है।

---

५

## सेवासदन (१६१६)

प्रेमचंद का पहला प्रसिद्ध उपन्यास सेवासदन ही है और इसी की लोकप्रियता के प्रभाव से वह उर्दू के क्षेत्र को छोड़ हिन्दी में आये और इसी के हो गये। जब यह उपन्यास प्रकाशित हुआ तो धूम मच गई। बँगला के अनुवादों में भी इस तरह की चीज़ हिन्दीभाषा-भाषियों को पढ़ने को न मिली थी। इसकी मौलिकता और भाषाशैली पर हिन्दी वाले रीझ गए। यह एक समस्या-प्रधान उपन्यास था कि समाज में वेश्याओं का क्या स्थान हो? वेश्यावृत्ति कैसे बन्द की जाय? ऐसी कौन-सी परिस्थिति है जो हमारे घर की नारियों को इस अनीति के पथ पर डाल देती है? लोगों का ध्यान इस समस्या पर आकर्षित होने लगा और कई नगरों में वेश्याओं के अड्डे चौक से हटाए जाने लगे। प्रेमचंद ने जनता के एक प्रश्न को उपस्थित किया, उसे सुलझाने का मार्ग दिखाया। जनता ने उनके बताए हुए निदान को किस हद तक ग्रहण किया यह हम आज भी देख सकते हैं! आज भी वेश्याएँ बनी हैं, बनती जा रही हैं, समाज में उनका कोई स्थान नहीं है। और उनके लिए "सेवाश्रम" जैसी संस्थाएँ नहीं खुल सकी हैं। खुल सकतीं तो भी यह कोई अंतिम निदान नहीं होता, यह

भी हम समझने लगे हैं। "सेवासदन" की महत्ता यह है कि वह हिंदी का पहला समस्यामूलक उपन्यास है और उपन्यास-कला की दृष्टि से भी वह अपने पिछले साथियों से कहीं आगे की भूमि पर चल रहा है।

एक तरह हम कह सकते हैं कि प्रेमचंद का सेवासदन उनकी नायिका "सुमन" की जीवन-गाथा है। सारी कथा का केन्द्र वही है, यद्यपि अवांतर प्रसंग भी कम नहीं आए हैं। वे इसलिए उपस्थित हैं कि सेवासदन मनोविश्लेषण-प्रधान चारित्रिक उपन्यास नहीं है—वह सामाजिक सुधारवादी उपन्यास है जिसका अंत "आन्दोलन" के रूप में सामने आ रहा है। अच्छा तो यह हो कि हम सुमन की कथा अलग पढ़ें और वेश्याओं के चौक से हटाये जाने की समस्या की कहानी अलग।

दारोगा कृष्णचन्द्र की पत्नी थी गङ्गाजली, दो लड़कियाँ थीं सुमन और शांता। भले, सज्जन आदमी थे। जिंदगी में कभी रिश्वत नहीं ली थी। परन्तु अब सुमन का विवाह करना है। पाँच हज़ार से कम में अच्छा वर नहीं मिलता। उन्होंने हिम्मत करके एक महंत को फँसा कर रिश्वत लेने का डौल बाँधा परन्तु मातहतों से साझा करने का गुर नहीं जानते थे। फल यह हुआ कि फँस गए और जेल चले गये।

रिश्वत के रुपये गङ्गाजली ने मुक़दमे में लगा दिये थे। कृष्णचन्द्र ने जहाँ पहले सम्बंध ठीक किया था वहाँ से साफ़ जवाब आ चुका था। वह अपने भाई उमानाथ के यहाँ, लड़कियों के साथ, रहने लगी थी। उन्होंने ही दौड़-धूप कर गजाधर से सुमन का विवाह कर दिया। वर दुहेजा था, १५) रु० का बाबू, कारख़ाने में नौकर।

सुमन ने दो महीने तो अच्छी तरह काटे। सारा घर का

काम-काज खुद ही कर लेती परन्तु गृहकार्य में कुशल नहीं थी। महीने में दस दिन बाक़ी था और यहाँ पैसा ख़त्म। धीरे-धीरे उसे अपनी पड़ोसिनियों का सुख और ऐश्वर्य देख कर असंतोष होने लगा। वह सुन्दरी थी, सुन्दर वस्त्राभूषण की उसे चाह थी, अच्छा खाने-पीने की आदी ! फिर जिस वातावरण में वह आ पड़ी थी, वह उसे और भी ललचा रहा था। सुमन के घर के सामने भोली नाम की एक वेश्या का मकान था। पहले सुमन उससे संस्कारवश घृणा करती थी, उससे बात करने में अपना अपमान समझती, परन्तु धीरे-धीरे वह देखती है कि जहाँ वह अकेली गजाधर से बँध गई है और उसके लिए भी भार हो गई है, वहाँ सब की होकर भी यह भोली सबके आदर-सम्मान की पात्र है। उर्स में वह बुलाई जाए, मंदिर उसके गानों से गूँजे, महफ़िलों की वह जान !

एक दिन सुमन यों ही कुछ देर के लिए भोली के यहाँ बैठी रही, गजाधर उस दिन मुजरा सुन आये थे, परन्तु वेश्या से बीबी का मेल-जोल नहीं सह सकते थे। खूब डाँटा-डपटा। सुमन को अपनी और भोली की परिस्थितियों की विषमता जँच गई परन्तु उसकी धर्मनिष्ठा ने उभड़ कर उसे बचा लिया, अभी वह पतन के गर्त से दूर थी।

अब सुमन प्रतिदिन माघ नहाने जाती और पाप की कालिमा भी हृदय में न आने देती। परन्तु एक दिन फिर परिस्थिति की विषमता उसकी आँखों के सामने आई। वह थक कर एक बाग़ की बेंच पर बैठ गई थी कि रक्षक ने उसे हटा दिया—कुछ देर पहले उसके देखते-देखते दो वेश्याएँ वहाँ बैठी थीं और यही आदमी उनके पीछे पालतू कुत्ता-सा लगा था। चौकीदार से वह झगड़ रही थी कि एक फ़िटन रुक गई थी—उसमें एक स्त्री और

एक पुरुष बैठे थे। उन्होंने बीच-बचाव कर दिया और सुमन को उसके घर पहुँचा दिया। यह वकील पद्मसिंह और सुभद्रा थे। उसी के मुहल्ले में इनकी कोठी थी।

साथ ही सुभद्रा के यहाँ सुमन का आना-जाना शुरू हो गया। गजाधर ईर्ष्यालु प्रकृति का आदमी था, उसे यह बात खटकी। "जैसे बालू पर तड़पती हुई मछली जलधारा में पहुँच कर किलोलें करने लगती है उसी प्रकार सुमन भी सुभद्रा के स्नेह रूपी जलधारा में अपने को भूल कर आमोद-प्रमोद में मग्न हो गई।" होली के दिन आ रहे थे। उधर पद्मसिंह म्युनिस्पलिटी के मेम्बर चुने गये थे। एक दिन दोस्तों ने भोलाबाई के मुजरे के लिए जोर दिया। पद्मसिंह को सिद्धान्तों को ताक़ में रखना पड़ा। मुजरा हुआ। सुमन भी गई। उस दिन उसे लौटते-लौटते दो बज गये थे। इधर गजाधर बहुत दिनों से पद्मसिंह के यहाँ आने-जाने में चिढ़ रहा था—बराबर खटकती थी। अनेक बार चीख़ने चिल्लाने पर उसने दरवाज़ा खोला परन्तु गजाधर उसे घर से निकालने पर तुला हुआ था। अन्त में "सुमन जैसी सगर्व स्त्री इस अपमान को सह न सकी" वह संदूक़ची उठा कर द्वार से निकल आई और गजाधर ने उसके पीछे दरवाजा बन्द कर लिया। इस प्रकार सुमन के विवाहित जीवन का अंत हो गया।

कुछ दिन तो वह सुभद्रा के यहाँ रही, परन्तु यहाँ चुनाव के ज़माने में कई आदमी वकील साहब के शत्रु हो गये थे। जब अंत में उनकी बदनामी होने लगी, शहरवाले उनके चरित्र पर सन्देह करने लगे, तो सहृदय पद्मसिंह ने सुमन से साफ़-साफ़ कह दिया कि उसका इस घर में कोई स्थान नहीं है।

दुतकारी हुई सुमन के लिए अब भोली के सिवा क

आश्रय था। गजाधर को जब मालूम हुआ तो उसे इतनी आत्मग्लानि हुई कि साधु हो गया। पद्मसिंह को पता लगा तो उन्हें भी कम पछताव नहीं हुआ। उन्हें लगा कि उन्होंने ही सुमन को कोठे पर ढकेला है। जिस समाज-सुधारक विट्ठलदास ने गजाधर को द्वेषवश भड़काया था, वह अब पद्मसिंह के साथ सुमन के उद्धार की बात सोचने लगे। परन्तु पद्मसिंह ग्लानि के कारण सुमन को अपना मुँह नहीं दिखाना चाहते थे—हाँ यह बात उनके मनको लग गई थी कि सुमन इस वेश्यावृत्ति को त्याग दे।

पद्मसिंह के एक बड़े भाई मदनसिंह थे। उनका लड़का सदन पद्मसिंह के पास आकर रहने लगा था। पद्मसिंह ने उसके पढ़ने-लिखने का प्रबन्ध किया, उसकी हवाखोरी को घोड़ा लिया, परन्तु उसे चौक की लत लग गई। वह सुमन पर मुग्ध हो गया और तरह-तरह के उपहार देने लगा। सुमन पद्मसिंह से उसका सम्बन्ध जान गई थी। वह इस तरह के उपहार लेने से इन्कार करती। परन्तु वह सदन को हाथ से निकलने भी नहीं देना चाहती थी—जब उसने काजल की कोठरी में पाँव दे दिया, तो जब तक बचाया जा सके, उसे बचाया जाय। एक दिन सदन उसे कंगन दे गया। बहुत आग्रह पर सुमन ने रख लिया परन्तु वह जानती थी, यह सुभद्रा की चीज़ है। उसे लौटानी पड़ेगी।

इधर विट्ठलदास सुमन को बाहर लाने के लिये अनेक प्रकार के यत्न करने लगे, परन्तु बड़ी कठिनाई से वह ३०)-४०) रु० का मासिक इन्तज़ाम कर सके। इससे अधिक कोई देने को तैयार नहीं था। यह सहायता भी पद्मसिंह की आत्मग्लानि की देन थी। एक दिन पद्मसिंह की भेंट सुमन से हो गई,

वह उन्हें सुभद्रा का कंगन लौटा आई, परन्तु वह उसे कैसे मिला इसका भेद नहीं बताया। आखिर विट्ठलदास के अतीव आग्रह से सुमन कोठा छोड़ने पर राज़ी हुई—मोह था, तो सदन का। परन्तु अभी तक उसकी देह पाप में लिप्त नहीं हुई थी। उसकी आत्मा हीरे की तरह स्वच्छ थी।

सदन को सुमन का पता नहीं लगा तो वह निराश और उदास हो गया। उन्हीं दिनों पद्मसिंह उसे और सुभद्रा को लेकर गाँव भाई के पास चले गये। यहाँ सदन का विवाह पक्का हो चला था। परिणीता सुमन की बहन शांता ही थी, परन्तु इस सम्बन्ध को कोई न जानता था। आखिर जब बरात अमोला पहुँच गई तो बात खुल गई। अब न मदनसिंह राज़ी होते, न सदन। कृष्णचन्द्र जेल से छूट आए थे। उन्होंने बरात को लौटते देखा तो लड़ने को तैयार हो गए। परन्तु सुमन की बात उन्हें मालूम नहीं थी। जब मालूम हुई तो माथा ठोक कर रह गए। बरात लौट आई। पद्मसिंह भाई को किसी भी तरह इस विवाह के लिए राज़ी न कर सके, आख़िर शान्ता वेश्या की ही तो बहन है। परिस्थिति की विडंबना यह, कि यही सदन सुमन पर प्राण देता था।

विट्ठलदास ने सुमन को अपने विधवाश्रम में गुप्त रीति से रखा था परन्तु जब यह बात फैल गई तो वे बड़ी संकट में पड़ गये। जो लोग सुमन के प्रेमी थे, वही इस विधवाश्रम को चला रहे थे। सुमन इस तरह उनके हाथ से निकाल ली जाय, यह बात उन्हें अखरती थी। उन्होंने विट्ठलदास के पीछे तूफ़ान उठा लिया।

सदन पद्मसिंह के साथ ही लौट आया था। एक दिन घाट पर उसने सुमन को देख लिया—वैराग्यपूर्ण, अहंकारविहीन

नैराश्य-भाव से मंडित नारिमूर्ति ! उसके हृदय में सौंदर्य, प्रेम, वासना और विवेक का द्वन्द होने लगा।

कृष्णचन्द्र ने ग्लानि से आत्महत्या कर ली। वे गङ्गा में डूब मरे। परन्तु शांता क्या करती ? उसने पद्मसिंह को पत्र लिखा और सातवें दिन तक उत्तर न आने पर डूब मरने का निश्चय किया। भाँवर न सही परन्तु विवाह तो मन का विषय है, वह तो विवाहित है। फिर उसकी उपेक्षा क्यों हो ? पिता और बहन के पाप उसे क्यों लगे ? पद्मसिंह किसी भी प्रकार मदनसिंह को राज़ी नहीं कर सके। अन्त में वह और विट्ठलदास शान्ता को लिवा लाये परन्तु दुर्बल-हृदय रूढ़िप्रिय पद्मसिंह शांता को घर में रख कर भाई में बिगाड़ नहीं करना चाहते थे। अतः उसे भी सुमन के पास विधवाश्रम में रखा गया। सुमन तो शोक से मरी जाती थी। हाय ! उसी के कारण तो छोटी बहन की यह दशा है।

गजानन्द और सुमन से भेंट हो गई थी, परन्तु गजानंद जो अब साधु थे, बीतराग थे, उसे किसी भी प्रकार ग्रहण करने को तैयार नहीं थे। उधर सदन बदल गया था। अब भी पश्चात्ताप से भरा था। वह कर्मठ युवा था। उसने मल्लाही करनी शुरू की थी और कुछ दिनों में छोटी-मोटी आय होने लगी। वह उसी में प्रसन्न था। धीरे-धीरे स्वावलंबन से उसमें चारित्रिक दृढ़ता का विकास हो गया। उसने वहीं अपनी कुटी भी बना ली। इधर विधवाश्रम में जो चर्चाएँ इन दो बहनों को लेकर चलती थीं, उसको बंद करने का एक ही उपाय था—आश्रम छोड़ दिया जाय। एक दिन सुमन शांता को लेकर निकल खड़ी हुई कि उसे अमोला पहुँचा आये और अपने कलंकमय जीवन का अंत कर दे। परन्तु घाट पर सदन से भेंट

हो गई। सुमन ने उसे शांता के प्रति अमानुषिक व्यवहार करने के प्रति गम्भीर क्षोभ प्रगट किया—शांता बेहोश थी। सदन ने शांता को पत्नी के रूप में स्वीकार करने की दृढ़ता दिखाई और दोनों बहनें वहीं सदन की कुटिया में रहने लगीं। पद्मसिंह ने सदन का धूमधाम से विवाह सम्पन्न करा दिया। परन्तु बड़े भाई से उनकी खटक गई।

परन्तु कुछ दिनों के बाद सदन शांता से ऊबने लगा तो शांता को सुमन के प्रति संदेह हुआ। उसके व्यवहार में कटुता आ गई। परन्तु वह गर्भवती थी। इसी कारण सुमन ने उसे छोड़ कर जाना उचित न समझा। जब उसके बच्चा हो गया और इस नवजात के कारण सदन-मदनसिंह का पारस्परिक मनमुटाव मिट गया, तो वह लापता हो गई। गजानंद से उसकी भेंट हुई उसने उसे सेवाधर्म का मार्ग सुझाया। पद्मसिंह ने वेश्याओं की ५० कन्याओं को सम्भ्रांत युवतियाँ बनाने के विचार से एक अनाथालय खोला था—सुमन को उसी की अध्यक्षा बनना होगा। यही इसका प्रायश्चित्त है। इस अनाथालय का नाम था "सेवासदन।"

स्पष्ट है कि ऊपर की कथावस्तु को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक कथावस्तु का सम्बन्ध सुमन और गजाधर से है, दूसरी का सम्बन्ध शांता और सदन से। एक की परिस्थिति सेवाधर्म (सेवासदन) में है, दूसरी कहानी का अंत परिणय-सूत्र से होता है। दोनों कहानियों की मूल भित्ति समाजसुधार है। सुमन वेश्या है, इसलिये मदनसिंह उसकी निष्कलंका बहन शांता का विवाह तोड़ देते हैं—परन्तु अंत में जब सदन स्वावलंबी हो जाता है तो पश्चात्तापपूर्वक शांता को ग्रहण करता है। तात्पर्य यह है कि लड़की वेश्या की बहन होने से ही पापपुञ्ज

नहीं हो गई। पहली कहानी में उन परिस्थितियों को सामने लाया गया है जिनमें हमारी बहू-बेटियाँ घर से निकल कर वेश्या हो कर कोठे सजाती हैं। कहानी के उत्तरार्द्ध में यह स्पष्ट है कि समाज में उनका कोई स्थान नहीं है। जिस "सेवासदन" में सुमन को जगह मिली है, वह भी विशेष आदर और सहानुभूति का पात्र नहीं है, हम देखते हैं।

ध्यान से देखने से पता लगेगा कि चौक से वेश्याओं के हटाए जाने की कथा अवांतर कथा है। उससे न सुमन-गजाधर की कहानी का सम्बन्ध है, न शांता-सदन की कथा का। सुधारक पद्मसिंह और विट्ठलदास और "म्यूनिसपलिटी" के कितने ही हिन्दू-मुसलमान सदस्यों को लेकर यह कथा बढ़ती है। कुछ मेम्बर पक्ष में, कुछ विपक्ष में, फलतः बीच के समझौते की परिस्थिति उत्पन्न होती है। पद्मसिंह एक प्रस्ताव उपस्थित करते हैं :—

(१) वेश्याओं को शहर के मुख्य स्थानों से हटा कर बस्ती से दूर रक्खा जाय।

(२) उन्हें शहर के मुख्य सैर करने के स्थानों और पार्कों में आने का निषेध किया जाय।

(३) वेश्याओं का नाच कराने के लिए भारी टैक्स लगाया जाय और ऐसे जलसे किसी हालत में खुले स्थानों में न हों।

परन्तु यह प्रस्ताव इस तरमीम के साथ ही पास हो सकता है—"बइस्तसनाय उनके जो ६ माह के अन्दर या तो अपना निकाह कर लें, या कोई हुनर सीख लें जिससे वह जायज तरीक़े पर अपनी जिंदगी बसर कर सकें।"

इस प्रस्ताव की कथा ही म्यूनिसपलिटी की कथा है। वास्तव

में यह सारा भाग सदस्यों की चहल-पहल और स्पीचों से भरा है, और कथा-भाग से इसका निकट का सम्बन्ध नहीं है। इसको इतनी महत्ता मिल गई है कि पिछली दोनों कथायें इस प्रस्ताव की भूमिका-मात्र जान पड़ती हैं। यहाँ पर प्रेमचन्द समाज-सुधारक का चेहरा ओढ़ कर ही हमारे सामने आते हैं। उनका श्रेय यह है कि उन्होंने समस्या को मनोरंजक रूप में (कथा के रूप में) उपस्थित किया है, परन्तु उनकी कथा की परिस्थिति और उनके प्रस्ताव में सुझाया हुआ "हल" दोनों बहुत आगे नहीं बढ़ सके हैं। सुमन समाज में स्वीकृत नहीं हो सकी है, पद्मसिंह अब भी उससे बचे-बचे रहते हैं, शांता और सदन का परिणय समस्या का कोई हल उपस्थित नहीं करता। यदि दो-चार उत्साही युवक वेश्याओं से विवाह भी कर लें। तो भी परिस्थिति का अंत नहीं हो जाता। प्रस्ताव तो समस्या को और भी पीछे छोड़ देता है। जब वेश्यायें रहेंगी ही, तो बात क्या हुई? स्पष्ट है, कि प्रेमचन्द समस्या के आर्थिक या मनोवैज्ञानिक पहलू के भीतर नहीं घुसते। वे मध्यवर्ग की सुधारवादी प्रकृति से आगे नहीं बढ़ते। वेश्यायें चौक से इसलिये हटा दी जायँ कि वे संक्रामक हैं। नाच-मुजरे खुली जगह इसलिए न हों कि सुमन की तरह कोई दुर्बल नारी गृहिणीपद से स्खलित न हो जाय? शहर के पार्कों में, बाज़ारों में, वेश्याएँ न घुस सकें कि मध्यवर्ग के छैले फँस न जायँ। यह समस्या को देखने का एक अत्यन्त सीमित दृष्टिकोण है। आज तो हम जानते हैं, कि यह कोई हल नहीं है, यद्यपि प्रेमचन्द के समय में जनता और सुधारकवर्ग प्रेमचन्द से आगे नहीं सोच सकते थे, यह सच है।

सेवासदन समस्यामूलक उपन्यास है और उसकी समस्या का सम्बन्ध नगर के सामाजिक जीवन से है। अतः इसमें कितने

ही पात्र ऐसे आना आवश्यक थे जिनका उपयोग केवल कथा को सजाने के लिए हुआ है। म्युनिस्पलिटी के कितने ही मेम्बर (सदस्य) हमारे सामने आते हैं, परन्तु हम कुछ को छोड़ कर शेष को कथासूत्र से सम्बन्धित नहीं पाते। वे केवल वेश्याओं विषयक हलचल के अनुमोदन या विरोध के लिए ही रंगमंच पर आते हैं। उनके व्यक्तित्व से हम परिचित नहीं हो पाते। वास्तव में, सभी समस्यामूलक उपन्यासों में चरित्र-चित्रण समस्या के नीचे दब जाता है। यहाँ भी ऐसा ही हुआ।

केवल उन्हीं चरित्रों को हम विशेष परिचितों के रूप में पाते हैं जिनका सम्बन्ध कथा से है। ये हैं—कृष्णचन्द्र, शांता, सुमन, पद्मसिंह, उमानाथ, मदनसिंह, सदन, विट्ठलदास, गंगाजली, भोलाबाई, सुभद्रा। परन्तु इन सभों से भी हमारा परिचय एक ही जैसा लंबा नहीं हो पाता। जो हो, विशेष चरित्र-चित्रण का प्रयत्न इन्हीं पात्रों में मिलेगा।

कृष्णचन्द्र उन निरीह भोले-भाले मनुष्यों में से हैं जो अपनी भलाई के शिकार हो जाते हैं। बेटी के विवाह के लिए दहेज की समस्या है। रिश्वत लेते हैं, परन्तु लेना नहीं जानते। पकड़ जाते हैं। जेल में भीतर के तर्क-वितर्क से उनका हृदय, मन, आत्मा सब विकृत हो जाते हैं। वे पहले कृष्णचन्द्र नहीं रहते। जेल-जीवन मनुष्य को कितना विकृत कर देता है, इसका इससे अच्छा चित्र कहीं नहीं मिलेगा। एक शब्द में कृष्णचन्द्र का बाक़ी जीवन एक बड़ा "Frustration" है—

वे रात को बारबार दीर्घ निश्वास लेकर हाय! हाय! कहते सुनाई देते थे। आधी रात को चारों ओर नीरवता छाई रहती थी, वे अपनी चारपाई पर करवटें बदल-बदल कर यह गीत गाया करते—

अगिया लागी सुन्दर बन जरि गयो,

कभी-कभी यह गीत गाते—

लकड़ी जल कोयला भई और कोयला जल भयो राख,
मैं पापिन ऐसी जरी कि कोयला भई न राख।

अब उनकी चितवन में कुचेष्टा होती, वे काम-संताप से जले जाते, नीच आदमियों के साथ चरस के दम लगाते। "वह कैसे गम्भीर, कैसे विचारशील, कैसे दयाशील, कैसे सच्चरित्र मनुष्य थे! यह कायापलट हो गई। शरीर तो वही है पर वह आत्मा कहाँ गई?"

वास्तव में यह अवस्था पिछली सज्जनता के प्रति प्रतिक्रिया है। कृष्णचंद्र जानते हैं—

"सबसे दग़ाबाज़ दीन किसानों का रक्त चूसने वाले व्यभिचारी हैं। मैं अपने को उनसे नीच नहीं समझता। मैं अपने किये का फल भोग आया हूँ, वे अभी तक बचे हुये हैं। मुझमें और उनमें केवल इतना ही फ़र्क़ है। वह एक पाप को छिपाने के लिये और भी कितने ही पाप किया करते हैं। इस विचार से वह मुझसे बड़े पातकी हैं। ऐसे बगुला-भक्तों के सामने मैं दीन बन कर नहीं रह सकता।"

परन्तु उनकी आत्मा मर नहीं गई है, शांता की बरात जब लौटने लगती है, तो उनमें स्वाभिमान जग जाता है। परन्तु जब वह सुमन के बहन की बात सुनते हैं तो मूर्च्छित हो जाते हैं। मर जाना चाहते हैं।

अन्त में डूब कर आत्महत्या कर लेते हैं। वे निरीह हैं। परिस्थितियों ने उन्हें अपना शिकार बना लिया। हमारा हृदय उनकी सहानुभूति में व्याकुल हो जाता है। वास्तव में

कृष्णचन्द्र सेवासदन का सबसे बड़ा अनूठा और मौलिक पात्र है।

शांता की तपस्या और उसके मनोभावों में 'वरदान' की वरजन (बृजरानी) साफ़ झलक जाती है। प्रेमचन्द ने जिन आदर्श हिन्दू नारियों की प्रतिष्ठा की है, शांता भी उन्हीं में से एक जाज्वल्यमान रत्न है। प्रेम ही उसका जीवन है। वह हिन्दू संस्कारों में बिंधी हुई उनका उज्ज्वल पक्ष हमारे सामने रखती है।

सुमन सेवासदन की नायिका है। सारा बवंडर उसी को ले कर है। प्रारम्भ में हम उसका अत्यन्त यथार्थ चित्रण पाते हैं परन्तु अन्य उपन्यासों की भाँति, अंत में प्रेमचन्द का। आदर्शवाद कथा का सूत्र अपने हाथों में ले लेता है। प्रेमचन्द की इसी आदर्शवादी प्रवृत्ति का नमूना है कि उन्होंने वेश्यालय में भी सुमन को पतन से बचा दिया है। रूसी उपन्यास 'यामा' के अध्ययन में हमें प्रेमचन्द की आदर्शवादी दुर्बलता साफ़ हो जाती है।

सुमन के पतन के बीच वह उस शिक्षा-दीक्षा और वातावरण में रक्खी गई है जिनमें वह पली और बाद में रही। "उसने गृहिणी बनने की नहीं, इंद्रियों के आनन्दभोग की शिक्षा पाई थी।" (पृ० २०) "उसे अच्छा खाने, अच्छा पहनने की आदत थी। अपने द्वार पर खोंचेवालों की आवाज़ सुन कर उससे रहा न जाता × × जिह्वारसभोग के लिये पति से कपट करने लगी (वही)"। उसकी प्रकृति सगर्वा थी (पृ० २१)। "जिन महिलाओं के साथ सुमन उठती-बैठती थी, वे अपने पतियों को इंद्रिय-सुख का यंत्र समझती थीं" (पृ० २२)। "फिर सुमन के घर के सामने भोली नाम की एक वेश्या का मकान था। भोली नित्य-नये

सिंगार करके अपने कोठे के छज्जे पर बैठती ।" (पृ० २३), पहले सुमन उससे घृणा करती थी, परंतु धीरे-धीरे वह जान गई कि लोग उस वेश्या को अपनी गृहणियों से अधिक चाहते हैं। तब अनादृत विवाहिता सुमन को भोली के सहानुभूतिपूर्ण अंचल में छिप जाना स्वाभाविक हो जाता है। परंतु सुमन के वेश्या-जीवन का साङ्गोपाङ्ग चित्र प्रेमचन्द उपस्थित नहीं करते। उसके मानसिक संघर्ष और द्वन्दों की ओर से वह आँखें मींच लेते हैं। इसलिये प्रेमचन्द के इस उपन्यास में सामयिकता अधिक है, अमर साहित्य के तत्त्व कम। वे जिस वेश्या-जीवन के प्रति विरोध प्रगट कर रहे हैं, उसकी विभीषिका भी उन्हें चित्रित करना चाहिये थी। परन्तु हम भूलते हैं—प्रेमचन्द वेश्या-जीवन क्यों, कैसे, क्या, प्रश्न उठाते ही नहीं; उनका लक्ष्य सीमित है। वेश्याएँ चौक में से, बाज़ारों में से, संभ्रान्त वर्गमानव के पथ से हटा दी जायँ। इस सीमित लक्ष्य ने उनके उपन्यास के महत्व को कम कर दिया है।

सुमन के जीवन में सदन को लाना अनावश्यक था—परंतु यदि प्रेमचन्द ऐसा न करते तो वे यह कैसे दिखा पाते कि वेश्या पर मुग्ध होने वाला तरुण उसकी बहन को पत्नीरूप में स्वीकार नहीं करता। इसीलिए सुमन का जितना चरित्र सदन के सम्पर्क में रहता है, वह अधखुला है, अस्पष्ट है, भ्रांत है। सुमन के जीवन के उत्तरार्द्ध में प्रेमचन्द उसे समाज से तिरस्कृत दिखा कर एक प्रकार का असंतोष उसके जीवन में भर देते हैं। वह सब ओर से लांछित है, अग्राह्य है, उसकी बहन के लिये भी उसकी नीयत साफ़ नहीं हो सकती। अंत में उसका पति गजाधर ही उसे मार्ग दिखाता है। यह सेवा का मार्ग है। परन्तु, प्रश्न होता है, क्या सुमन के जीवन की पूर्णता यही है, क्या सुमन

बराबर इसी सेवापथ पर चलने के लिये तैयारी करती रही है ? क्या यह प्रेमचन्द की आदर्शवादिता की विजय नहीं है ? सीमित लक्ष्य के भीतर से कथा बढ़ाते हुये प्रेमचन्द ने सुमन का अच्छा चित्रण किया है, परन्तु वह उसे ऐसा चरित्र नहीं बना सके जो विशिष्ट हो, अमर हो, लांछित होते हुये भी पुण्यप्रभालोकित हो। शरच्चन्द के 'देवदास' की यमुना के प्रति हमारी जो सहानुभूति अक्षयकोष बिखेरती है वह सुमन की ओर मुट्ठी भर मोती डालती है।

पद्मसिंह कुटुम्बभीरु, समाजभीरु परन्तु सज्जन, दृढ़व्रती आदर्शवादी पुरुष चित्रित किये गये हैं—प्रेमचन्द का अपना चरित्र ही उनमें झलक पाया है। सच तो यह है कि वह अपने समय के हिन्दू मध्यवर्ग के प्रतीक हैं। सुमन को उन्होंने कोठे की ओर ढकेला, इस ग्लानि में उनकी आत्मा जलती है, परन्तु उन्हें उसके पास जाने का साहस नहीं होता। वेश्याओं का नाच ठीक नहीं, वे सुधारवादी सिद्धान्त के पोषक होते हुये भी मित्रों के आग्रह पर नाच कराते हैं जो सुमन के घर से निकाले जाने का कारण होता है। भाई से इतना डरते हैं कि अपने सिद्धान्त की हत्या करते हुये वे अपने भतीजे की बरात में रंडियाँ ले जाते हैं। सदन और शांता की कथाएँ हम उनकी लाचारी पग-पग पर देखते हैं। ऐसा असाहसी, भीरु प्रौढ़ कैसे सुधारवादी बन जाता है, यह रहस्य है—परन्तु इस रहस्य के पीछे विट्ठलदास की कर्मठ तेजस्वी मूर्ति झलकती है। 'सेवा सदन' का सारा श्रेय विट्ठलदास को है, पद्मसिंह अकेले कुछ न करते। उनमें इतना साहस ही नहीं। परन्तु द्विधाओं के बीच में जिस प्रकार मानसिक यातना और आत्मिक ग्लानि के साथ, वे अपनी नाव खेते हैं, उसको देख कर उनसे सहानुभूति ही होती

है। पद्मसिंह के भाई मदनसिंह पुरानी वज़ा पर जान देने वाले रूढ़िप्रिय व्यक्ति हैं जिन्हें अंत में पुत्र-प्रेम के कारण अपने सिद्धान्तों को बलि देनी पड़ती है और यथार्थ की भूमि पर आना पड़ता है। प्रेमचन्द ने इनका चित्रण अत्यन्त सहृदयता से किया है। प्रेमचन्द गुज़रती हुई पीढ़ी का चित्रण करने में बेजोड़ थे। सेवासदन का ५७वाँ अध्याय मदनसिंह के अन्तिम मनोभावों के परखने की अच्छी सामग्री उपस्थित करता है। चरित्र-चित्रण का सबसे उत्कृष्ट चित्र वह है जहाँ वे मदनसिंह के मनोभावों को ढँकते-खोलते हैं। पद्मसिंह और मदनसिंह में बातें हो रही हैं—

मदन—सब कुशल है ?

पद्म—जी हाँ, सब ईश्वर की दया है।

मदन—भला, उस बेईमान की भी कुछ खोज खबर मिली है?

पद्म—जी हाँ, अच्छी तरह हैं, दसवें-पाँचवें मेरे यहाँ आया करते हैं। मैं भी कभी-कभी हाल पुछवा लेता हूँ। कोई चिंता की बात नहीं है।

मदन—भला वह पापी कभी हम लोगों की भी चर्चा करता है या बिलकुल मरा समझ लिया ? क्या यहाँ आने की कसम खा ली है ? क्या हम लोग मर जायँगे तभी आवेगा। अगर उसकी इच्छा हो तो हम लोग कहीं चले जायँ। अपना घर-द्वार ले, अपना घर सँभाले, सुनता हूँ वहाँ मकान बनवा रहा है। वह तो वहाँ रहेगा और यहाँ कौन रहेगा। यह किसके लिए छोड़े देता है ?

पद्म—जी नहीं, मकान-वकान कहीं नहीं बनवाते, यह आपसे किसी ने झूठ ही कह दिया। हाँ, एक चूने की कल खड़ी कर ली

है और यह भी मालूम हुआ है कि नदी-पार थोड़ी-सी ज़मीन भी लेना चाहते हैं।

मदन—तो उससे कह देना पहले आकर इस घर में आग लगा जाय तब वहाँ जगह-ज़मीन ले।

पद्म—× × × आपकी इच्छा हो तो वह कल ही चला आवे।

मदन—नहीं, मैं उसे बुलाता नहीं। हम उसके कौन होते हैं जो यहाँ आवेगा। लेकिन यहाँ आवे तो कह देना ज़रा पीठ मज़बूत कर रखे × ×। (पृ० ३५४-३५५)

विट्ठलदास के चरित्र में हम एक सच्चे, उत्साही लोकसेवक से परिचित होते हैं और उसके सामने क्या बाधाएँ आती हैं, यह देखते हैं। कहने का मतलब यह है कि विट्ठलदास एक "टाइप" हैं, उनमें विशेष व्यक्तित्व का विकास नहीं किया गया है। चुनाव के वातावरण में हम विट्ठलदास को नीचे उतरते भी देखते हैं—उन्होंने पद्मसिंह को बेकार बदनाम किया है, परन्तु आगे चल कर उनका उज्ज्वल चरित्र उनके इस स्खलन को पूर्णतः ढक लेता है।

विट्ठलदास की तरह भोला भाई भी अपने वर्ग का प्रतीक है। उसके ऐश्वर्य, और उसकी प्रसिद्धि की चमक के पीछे उसका व्यक्तित्व छिप गया है।

रह गए गङ्गाजली, सुभद्रा और सदन। पहले दो चरित्र स्थिर हैं, गङ्गाजली तो बहुत ही कम हमारे सामने आई। दहेज की समस्या से घबड़ा कर उसके पति को रिश्वत लेने को उतारू किया, परन्तु जब उसे बचा न सकी तो दुःख से जान दे दी। सुभद्रा साधारण सहृदय गृहस्थ स्त्री है। सदन के चरित्र को हमें विशेष रूप से अध्ययन करना है।

सदन प्रेमचन्द की कर्मभूमि के "अमर" से बहुत मिलता-

जुलता है। पहले विलासी, भीरु हृदय; फिर कर्मठ होकर स्वस्थ। वह चाचा के यहाँ सुख से रहना चाहता है, अतः घर से भाग आता है। मार्ग में उसकी भयभीत, भीरुप्रकृति का अवांतर चित्रण है जो दुर्बल युवा के मनः-तत्व का अच्छा विश्लेषण उपस्थित करता है। पद्मसिंह के यहाँ रहते हुए उसने सुमन से किस तरह प्रेम बढ़ाया, यह हम कथा प्रसङ्ग में बता चुके हैं।

सेवासदन, प्रेमचन्द का पहला सफल उपन्यास है और कदाचित् उसकी लोकप्रियता ने ही उन्हें उपन्यास-लेखन की ओर विशेष रूप से प्रोत्साहित किया। इसमें हमें पहली बार प्रेमचंदी भाषा और उसकी प्रसाद गुण-सम्पन्न सशक्त शैली का परिचय हुआ। साथ ही समसामयिक जीवन के अनेक महत्वपूर्ण चित्र भी मिले। इस उपन्यास में नारी जीवन की असमर्थता का एक बड़ा ही समर्थ चित्र उपस्थित होता है। हिन्दू नारी वेश्या से भी गई बीती है। उसके पास जीने का एक मात्र ही साधन है—वह अपने तन को बेचे, चाहे पति को, चाहे किसी अन्य व्यक्ति को। सुमन की जीवनगाथा हिन्दू समाज के ऊपर सबसे बड़ा व्यंग्य है। अन्य उपन्यासों की तरह यहाँ भी प्रेमचंद ने एक सस्ता-सा हल निकाल लिया है—एक आश्रम यहाँ भी खुल जाता है, यही 'सेवासदन' है। परन्तु उपन्यास का क्रांतिकारी काम तो वहीं खत्म हो जाता है जहाँ चारों ओर से लांछित सुमन आत्म-हत्या के लिए निकल पड़ती है। यदि प्रेमचन्द उपन्यास को यहीं समाप्त कर देते तो उसकी क्रान्तिदृष्टि बनी रहती। अकस्मात् सुमन के पति गजाधर प्रसाद पहुँच जाते हैं। वे अब स्वामी गजानंद हैं और उन्होंने वेश्याओं की लड़कियों को लेकर एक अनाथालय खोल रखा है। इस अनाथालय के काम को वे सुमन को सौंप देते हैं। परन्तु सचमुच यह तो

समस्या का कोई हल नहीं हुआ। फिर भी जिस शक्ति के साथ नारी की सामाजिक हीनता और वैवाहिक विडंबना का चित्र प्रेमचंद ने इस उपन्यास में खींचा है, वह पाठक को भीतर तक हिला देती है। एक वर्जित प्रदेश में प्रवेश कर वह इतना विशद, इतना मार्मिक चित्र उपस्थित करने में सफल हुए हैं—यही क्या कम है? अलेकजेंडर कूप्रिन के 'यामा' ( Yama, the Pit ) रूसी उपन्यास से 'सेवासदन' की तुलना करने से प्रेमचंद की यथार्थवादी पकड़ और उनकी तीव्र मेधा की बात सरलता से ही समझी जा सकती है। कूपिन ने वेश्या-जीवन की ऊब, उसकी कुचेष्टाओं, उसकी निर्लज्जता, उसके आर्थिक पहलू का बड़ा ही विशद—कहीं-कहीं घृणास्पद—चित्र खींचा है, परन्तु वे इस रोग का कोई भी निदान नहीं बता सके हैं। प्रेमचंद की तरह सुमन, भोली, गजाधर और कृष्णचन्द्र जैसे चरित्र 'यामा' में नहीं मिलेंगे। सुमन के प्रति लेखक के पास अपार सहानुभूति है, परन्तु शरतचंद के नायकों की तरह वह वेश्या को सती से भी ऊँचा मान कर आगे नहीं बढ़ते। बड़ी सतर्कता से उन्होंने एक अत्यंत मार्मिक चित्रपटी हमारे सामने उपस्थित की है जो हमें प्रभावित किये बिना नहीं रह सकती।

६

# प्रेमाश्रम ( १९२२ )

प्रेमाश्रम प्रेमचंद का दूसरा प्रकाशित उपन्यास है औ इसमें वे एकदम हिंदी उपन्यास की परम्परा से दूर जा पड़े हैं यही इसकी तत्कालिक लोकप्रियता का कारण था। विषय औ विवेचन के सम्बन्ध में तथा सामयिक समस्याओं के सम्बन्ध उसकी मौलिकता ने पाठकों और आलोचकों का ध्यान उसकी ओ खींचा। बाबू रामदास गौड़ ने उसकी भूमिका लिखते सम उसकी तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है :

१—प्रेमाश्रम में अनेक स्थलों में मानसिक विकारों तस्वीर खींचने में प्रेमचंदजी बंकिम बाबू से भी बढ़ गए हैं।

२—जहाँ बङ्किम बाबू की शैली बँगला के शब्द-बाहुल्य भरी है, वहाँ प्रेमचंदजी ने अपने 'अर्थ अमित अरु आखर थो का मार्ग बहुत प्रशस्त कर डाला है। इनका ढङ्ग विशेष अपना है। इनके एक-एक शब्द इस अनुपम गद्य-का में अपने उपयुक्त स्थान पर जड़े हुए रत्न हैं जो इसकी शो बिना बिगाड़े बदले नहीं जा सकते, बड़ी चतुर उँगलियों गुँथी हुई कलियाँ हैं जिनका विकास पाठक के मन में पहुँच क होता है।

३—किसानों के जीवन का सच्चा फोटू खींचने का श्रेय प्रेमचंदजी को देना पड़ेगा।

आलोचना में लिखी ये बातें प्रशंसा नहीं, यथातथ्य हैं। अब तक हिंदी उपन्यास का विषय व्यक्ति और समाज था। अधिकांश उपन्यास-साहित्य रोमांश की भावना से गुप्त था। १९वीं शताब्दी के अंतिम दशाब्द और २०वीं शताब्दी के पहले दो दशाब्दों में ऐयारी, तिलिस्मी, जादूगरी के उपन्यासों की प्रधानता रही। सामाजिक उपन्यास भी एक श्रेणी के पाठकों में चले परंतु इस क्षेत्र में हिंदी उपन्यासकार बँगला के उपन्यासों का मुक़ाबिला नहीं कर सकते थे। बँगला उपन्यासों में शरत का युग नहीं आया था। रवीन्द्र और बङ्किम का दौरदौरा था। दोनों के विषय धर्म और समाज थे। जिस प्रकार की धार्मिक समस्या बँगला के जन-समाज में थी (ब्रह्म-समाज और सनातन हिन्दू-धर्म का संघर्ष) उस प्रकार की समस्या हिंदी प्रदेश में नहीं थी, परन्तु कुछ सामाजिक समस्यायें एक ही थीं जैसे बालविवाह, विधवाविवाह, लड़कियों के लिये योग्य वर न मिलना, स्वतंत्र प्रेम का तिरस्कार, लड़कियों (स्त्री मात्र ही) की हीनावस्था, पुराण-पंथियों का बल और सामाजिक दंड का भय।

प्रेमचंद ने भी पहले-पहल इसी क्षेत्र पर दृष्टि डाली। सेवासदन इसी का फल था। उसमें एक साथ कई समस्याओं की ओर इशारा था—नहीं, उनकी सफल विवेचना थी। यहाँ इस नवीन उपन्यास के साथ उन्होंने उपन्यास को नवीन भूमि पर उतारा।

यह नवीन भूमि थी राजनीति। पश्चिम के उपन्यासों में, विशेष कर रूसी उपन्यासों में, यह भूमि बहुत पहले से स्वीकृत थी। थेकरे के समय से अंग्रेजी साहित्य में इसके प्रयोग हुए थे,

परंतु अधिकांश योरोपीय उपन्यास व्यक्ति और समाज, रोमांस और साहित्यिकता को लेकर चलता था। भारत में तो इस क्षेत्र में कोई प्रयोग भी नहीं हुआ था। प्रेमचंद को इस प्रयोग की उत्तेजना मिली उस नवीन असहयोग-आन्दोलन से जिसके कर्ताधर्ता गांधी जी थे। परंतु उन्होंने जिस कुशलता से इस भूमि में काम किया वह अपूर्व था। प्रेमाश्रम हिंदी का ही नहीं, भारत का पहला राजनैतिक उपन्यास है, परंतु इसमें कोई भी पहले प्रयास की कच्चाई नहीं मिलेगी। कम से कम जहाँ तक गाँव की राजनीति का सम्बन्ध है, इस उपन्यास के बाद की रचनाओं में भी प्रेमचंद इतने व्यापक क्षेत्र और इस कोटि की इतनी समस्याओं तक नहीं पहुँच सके।

प्रेमाश्रम की वस्तु का विश्लेषण करने पर उसके आधार इन समस्याओं में मिलेंगे—

( १ ) राजनैतिक समस्या—किसानों की दयनीय दशा, उसका प्रतिकार और समाधान

( २ ) हिंदू-मुसलिम इत्तहाद की समस्या और उसके नाम पर किये गये तमाशे ( ईजाद हुसैन और उनकी अंजमन इत्तहाद )

( ३ ) नागरिक और देहाती जीवन में वैषम्य

( ४ ) अंध-विश्वास ( तेज-पद्म )

( ५ ) धर्माडम्बरों की पोल ( ज्ञानशंकर-गायत्री )। परंतु इन मौलिक समस्याओं को उपन्यास का ढाँचा देना अत्यंत दुस्तर कार्य था। प्रेमचंद का कौशल यहीं पर दिखलाई पड़ता है।

केन्द्रीकरण कैसे हो—इसके लिए ज्ञानशंकर-गायित्री और लखनपुर हमारे सामने हैं। इन्हीं के माध्यम के द्वारा कथा-वस्तु सङ्गठित हुई है। इनमें समस्या के प्रतीक के रूप में लखनपुर और चरित्र के विस्फोटन के रूप में ज्ञानशङ्कर हैं। हम चाहें तो उप

न्यास को लखनपुर का विकास या ज्ञानशङ्कर के पतनोत्थान का रूप समझ सकते हैं।

इस वस्तु की विवेचना इन्हीं सूत्रों पर करेंगे।

लखनपुर-लखनपुर ज्ञानशङ्कर और प्रेमशङ्कर की ज़मीदारी है। बनारस नगर से १२ मील पर उत्तर की ओर बड़ा गाँव है। यहाँ अधिकांश कुर्मी और ठाकुरों की बस्ती है, दो-चार घर अन्य जातियों के भी हैं। लखनपुर की रंगभूमि पर जो पात्र उतरते हैं वे हैं मनोहर, दुखरनभगत, सुक्खू, गिरिधर, विलासी, बलराज, क़ादिर, कल्लू, डपटसिंह, बिंदा महाराज, कर्तारसिंह; विशेसरशाह, विलासी की बहू ( बलराज की स्त्री )।

लखनपुर का वातावरण क्षुब्ध है। ज़मींदारी के चपरासी गिरिधर महाराज घी के रुपये बाँटते हैं। ज़मींदार के भाई के यहाँ बरसी है। सब घी देने पर राज़ी हो जाते हैं, परन्तु मनोहर अकड़ जाता है। गर्म तो वह हो जाता है परन्तु जब क्रोध शांत होता है तो कारिन्दे का भय सताता है। उसके पुत्र बलराज को पता चलता है। वह भी नंगी तलवार है। कहता है—कोई हमसे क्यों माँगे? किसी का दिया खाते हैं कि किसी के घर माँगने जाते हैं? अपना तो एक पैसा नहीं छोड़ते, तो हम क्यों धौंस सहें? नहीं हुआ मैं, नहीं तो दिखा देता। मनोहर की छाती अभिमान से फूल जाती है परन्तु बलराज की यौवनसुलभ उद्दण्डता से उसे भय भी होता है। कादिर खाँ कारिन्दे को मनवाना चाहते हैं, मनोहर जाने को तैयार नहीं होता है, पत्नी विलासी जाती है, परन्तु कारिन्दा नहीं मानता। ज़मींदार ( ज्ञानशंकर ) से शिकायत करता है। क़ादिर वहाँ मनोहर को लेकर जाते हैं परन्तु वहाँ भी तिरस्कार मिलता है। मनोहर का विरोध और भी प्रचंड हो जाता है। कादिर खाँ का अपमान उसे असह्य हो उठता है। वह भग-

वान की दुहाई देकर क़ादिर के साथ बाहर निकल आता है। कारिन्दा ग़ौसखाँ, पटवारी मौजीलाल और सुक्खू चौधरी गाँव को सताने में कोई कसर उठा नहीं रखते परंतु क़ादिर शांति का पाठ देकर परिस्थिति को सँभाले रखता है।

अगहन के महीने में डिप्टी ज्वालासिंह का लश्कर पहुँचा। बेगार होने लगी। दूध माँगा जाता है। बलराज तेज़ पड़ता है तो चपरासी हेकड़ी का मज़ा चखाने की धमकी देते हैं। बलराज स्वयं ज्वालासिंह के पास पहुँच जाता है। वे उसकी अवहेलना (उपेक्षा) करते हैं परन्तु बलराज की बातों का प्रभाव उनपर होता है और वे बेगार बंद करवाने का हुक्म देते हैं।

इधर ग़ौसखाँ चपरासियों से गाँव वालों की वारदात की फ़रियाद लेकर उपस्थित होता है, दयाशंकर (पुलिस-इंस्पेक्टर) आते हैं, तहक़ीकात होती है। बलराज हिरासत में ले लिया जाता है। प्रमाण न मिलने पर छोड़ दिया जाता है। यहां दारोग़ा जी गाँव वालों से बयान बदलने को कहते हैं। ग़ौसखां से रुपये ले लेते हैं। परंतु क़ादिर के अंतिम प्रयत्नों से गाँव वाले बयान बदलते नहीं। दयाराम असफल रह जाते हैं। परंतु ग़ौसखां के कहने से ज्ञानशङ्कर इजाफ़ा करते हैं। गाँववाले अपील करते हैं। ज्वालासिंह उन्हें जिता देते हैं।

इसी समय गाँव पर ताऊन का प्रकोप होता है और कितने ही जवान पट्ठे चले जाते हैं। ग़ौसखाँ अपील हारने के बाद प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिये नयें-नये जुल्म निकालता है। फ़ैज़ू और कर्तार (चपरासियों) को लेकर ज़मींदार के मुख्य तालाब को रोक देता है। जून का महीना है। पशु प्यासे मरने लगे। अदालत में दावा दायर होता है परंतु भाग्यवश भगवान के भय

से पटवारी मौजीलाल ( जिनका पुत्र ताऊन में मर चुका था ) गाँव का पक्ष लेते हैं। जीत गाँव की ही होती है।

दयाशङ्कर की जगह नूरआलम दारोगा बन कर आते हैं। ग़ौस इनसे साँठगाँठ करता है। वे सुक्खू चौधरी के घर में कोकीन बरामद करते हैं और वह १० वर्ष की सजा पा जाता है।

अगहन का महीना था। बड़ी पुलिस का लश्कर ठहरा था। तहसीलदार इंतजाम करने आये। बेगार चली खूब। गाँव वालों को घास छीलना पड़ती थी। दुखरन इंकार करता है तो दुर्गत हो जाती है। गाँव वाले विद्रोह पर तुल जाते हैं परन्तु प्रेमशङ्कर के बीच में पड़ने से सब सह लेते हैं। भगत दुखरन घर जाकर शालिग्राम की मूर्ति पर गुस्सा उतारता है। तहसीलदार के चपरासी कितना ही उधार लेकर मुकर जाते हैं। कुँवार में ग़ौसखाँ चरावर रोक देता है। यहाँ पर ग़ौसखाँ और फ़ैज़ू के विलासी की झपट हो जाती है। विलासी को चोट आ जाती है। जब मनोहर और बलराज को पता होता है तो वह मन में एक भयंकर बात ठान लेते हैं। यहाँ से मनोहर और बलराज कथा के केन्द्र बन जाते हैं। अंत में ग़ौसखाँ की हत्या होती है। सारा गाँव बँध जाता है। मनोहर क़बूल लेता है। मुक़दमा चलता है—मनोहर आत्महत्या कर लेता है। इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप गाँव वाले सङ्गठित हो जाते हैं। प्रेमशङ्कर के प्रयत्नों से जनता की सहानुभूति लखनपुर वालों को मिलती है। अंत में वे मुकदमा जीत जाते हैं और उनमें नये सङ्गठित जीवन का उदय होता है।

परंतु यह समझ लेना चाहिये कि यह परिवर्तन स्वयं गाँव के भीतर से नहीं हुआ। यह प्रेमशङ्कर के एकांत प्रयत्नों का फल है। प्रेमचंद यहाँ एकदम सुधारवादी हैं, क्रांतिकारी नहीं।

दूसरी बात यह, कि गाँव के ज़मीदार में भी परिवर्तन हो गया है। ज्ञानशङ्कर की जगह विरक्त, समाजवादी विचार-धारा का पोषक मायाशङ्कर आ गया। इस प्रकार गाँव की परिस्थिति में सुधार होने का बहुत कुछ श्रेय परिस्थितियों को और कुछ व्यक्तियों को है जिनका गाँव की सत्ता में अलग स्थान नहीं है। प्रेमचंद व्यक्तियों के हृदय-परिवर्तन पर पहुँच कर रुक जाते हैं। यही उनका आदर्शवाद है। समस्या राजनैतिक है। उसका हल राजनैतिक है—गाँव की संस्था का क्रांतिकारी आमूल परिवर्तन। प्रेमचंद इस उपन्यास में उसकी ओर नज़र भी नहीं उठाते। वे प्रेमाश्रम पर रुक जाते हैं। परंतु प्रत्येक गाँव में प्रेमाश्रम नहीं बन सकता। 'प्रेमाश्रम' का महत्व यह है।

कि वह गाँव की मूल समस्याओं को उपस्थित करता है—

कि वह गाँव के ईर्षा-द्वेष, सामाजिक और वैयक्तिक दोनों को सामने लाता है।

कि वह ज़मींदार और ग्रामीण, नागरिकों और गाँव वालों के स्वार्थों के संघर्ष को उपस्थित करता है।

परंतु उसने समस्याओं को जिस प्रकार हल किया है, वह कोई हल नहीं है, समझौता है। इस प्रकार प्रेमचंद अपने युग से आगे नहीं बढ़ सके हैं। वे विद्रोह की नंगी तलवार मनोहर और बलराज को पश्चात्ताप की जलधारा में बुझा देते हैं।

ज्ञानशङ्कर—ज्ञानशङ्कर लखनपुर के ज़मींदार हैं—अर्थलिप्स, ऐश्वर्यकामी, स्वार्थी। उनकी समस्याएँ तीन श्रेणियों की हैं (१) गाँव से संबंधित (२) कौटुम्बिक (३) वैयक्तिक (प्रेममूलक)। इनमें पहली समस्या का संबंध लखनपुर से है। गौसखाँ उनका आदमी है। उसके द्वारा जो समस्याएँ खड़ी की गई हैं, वे मूलतः

उनकी ही समस्याएँ हैं। परन्तु इनमें ज्ञानशङ्कर विशेष रूप से भाग नहीं लेते। वे ज़मींदार के रूप में वीथिका में रहते भर हैं। पिछली दो समस्याएँ ही उनकी प्रधान समस्याएँ हैं।

ज्ञानशङ्कर के पिता जयशङ्कर का देहांत हो चुका है। चाचा प्रभाशङ्कर मालिक हैं, कर्ता-धर्ता हैं। पत्नी है विद्या जो आचार-विचार में इनके विपरीत। भाई प्रेमशङ्कर लापता हैं। भाभी श्रद्धा उनके वियोग में दुख पाती हुई भी शांत, साध्वी है। चाचा के तीन लड़के हैं। बड़े लड़के दयाशङ्कर पुलिस में हैं। दो तेज-पद्म छोटे हैं। ज्ञानशङ्कर को दो सन्तानें हैं—माया (लड़का), मुन्नी ( लड़की )। चाची हैं। इतना कुटम्ब है। हैं ये बिगड़े रईस।

कुटुम्ब की समस्या है वही जो प्रायः सम्मिलित कुटुम्ब की समस्या होती है। वर्तमान शिक्षा ने सहयोग की भावना को समाप्त कर दिया है। भाई-चारे की बात ही क्या? स्वार्थ का नाता है। ज्ञानशङ्कर को भय है कि चाचा का कुटुम्ब खाये जाता है, उनके गाँठ पल्ले कुछ नहीं पड़ता। इसी से वे प्रति दिन बँटवारे की बात सोचते हैं।

उनके मित्र ज्वालासिंह डिप्टी कलेक्टर बन कर आये हुए हैं। ज्ञानशंकर ईर्षालु प्रकृति के मनुष्य हैं। उन पर उनकी ईर्षा प्रगट हो ही जाती है, इत्तफ़ाक़ से कुछ समय बाद दयाशंकर घूस-खोरी के मामले में फँस जाते हैं। ज्वालासिंह के यहाँ मुक़दमा है। ज्ञानशंकर का द्वेष भड़क उठता है। चाचा बिनती करते हैं तो सिद्धान्त की बात उठाते हैं। परंतु ज्वालासिंह के पास पहुँच कर जब वह कहते हैं तो ईर्षा टपकती है। दयाशंकर पर इलज़ाम साबित नहीं होता। वे बरी हो जाते हैं। परंतु इस बात से चिढ़ कर ज्ञानशंकर बँटवारा कर लेते हैं।

परंतु बँटवारे से शांति नहीं मिली। प्रभाशंकर पुरानी वज़अ के आदमी हैं—निभाये रखना चाहते हैं। ज्ञानशङ्कर को बात अखरती है। विद्या से इस विषय में उनका असहयोग है और वे उसे अत्यंत मार्मिक वेदना पहुँचाने से भी नहीं चूकते। इसी समय दूसरी कौटुम्बिक समस्या का श्रीगणेश होता है? राय महानन्द ( विद्या के पिता ) की एक मात्र पुत्रसन्तान की मृत्यु हो जाती है। अब मायाशङ्कर ही वारिस हैं। ज्ञानशंकर की बाँछें खुल पड़ती हैं। विद्या के प्रति उनका भाव बदल जाता है। वे उसे लेकर बनारस जाते हैं। यहाँ वे रायसाहब की फ़िज़ूलख़र्ची देखते हैं तो कुढ़ने लगते हैं। यहाँ विद्या की बड़ी विधवा बहिन गायित्री से परिचय होता है। वे उस पर बलात्कार भी कर लेते हैं। इसके बाद आत्मग्लानि में डूबी गायित्री गोरखपुर चली जाती है जहाँ उसकी बड़ी ज़मींदारी है। ज्ञानशङ्कर उदास मुँह उसे विदा भी करते हैं। उसके लिए उनके हृदय में टीस भी उठती है परंतु अभी वह स्वार्थ की समस्या नहीं बनी है। राय साहब और ज्ञानशङ्कर के चरित्र में एकांत विरोध है। इसके साथ ही स्वार्थों का भी विरोध आ पड़ा। इससे बनारस रहते हुए ज्ञान-शङ्कर की तीव्र वेदना का अनुभव प्रतिदिन होने लगा। उन्हें रायसाहब से घृणा हो गई—शक हुआ कि ये साहब कहीं दूसरा विवाह तो नहीं करने वाले हैं। परंतु तब रायसाहब ने इनकी चिंता को शांत कर दिया। रायसाहब नैनीताल चले जाते हैं परंतु ज्ञानशङ्कर को यही समस्यायें घेरे रहती हैं। वे ईर्षा से नैनीताल के जीवन का विरोध करते हैं और संत बन जाते हैं। इसी समय एक दूसरी कौटुम्बिक समस्या आ खड़ी होती है।

प्रेमशङ्कर अकस्मात् विलायत से लौट आते हैं। ज्ञानशङ्कर चिंता में पड़ जाते हैं—क्या फिर बँटवारा होगा। इससे वे संघर्ष

के लिये तैयार हो जाते हैं। जाति-वहिष्कार की आड़ लेकर समुद्र-पार के यात्री को घर ही से अलग करना चाहते हैं। श्रद्धा को भड़काते हैं। उसके स्त्री-सुलभ धार्मिक भीरु स्वभाव की आड़ में चोट करते हैं। परंतु समस्या प्रेमशङ्कर के त्याग से सुलभ हो जाती है। वे त्यागी हैं, सिद्धान्तवादी हैं, सेवा करना जानते हैं, परिश्रम की कमाई खाना चाहते हैं। वे सब कुछ इन पर छोड़ कर अलग हो जाते हैं।

परंतु दो समस्यायें अब भी बनी हैं। गायित्री के लिए उनके हृदय में अब भी टीस उठती है। रायसाहब से अब भी ईर्षा है। इधर गायित्री पर परिस्थितियों का जादू चलता है। वह इन्हें मैनेजर बनाने के लिए आग्रह करती है। विद्या के मना करने पर भी ज्ञानशङ्कर गायित्री के पास चले जाते हैं। पहले तो उनमें अधिकारलिप्सा है परन्तु धीरे-धीरे वे गायित्री पर भी अधिकार जमाना चाहते हैं। इसके लिये राधाकृष्ण के प्रेम का नाट्य होता है।

सात-आठ वर्ष बीत जाते हैं। स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता। ज्ञानशङ्कर विद्या को लेने बनारस आते हैं। गायित्री गोरखपुर ही रह जाती है। यहाँ रायसाहब विदेशी संगीत के प्रचार में ३-४ लाख रुपये खर्च कर रहे हैं। वे क्षोभ में मरकर उनसे झगड़ पड़ते हैं। रायसाहब गायित्री सम्बंधी उनका चारित्रिक पतन उनपर प्रगट कर उनकी भर्त्सना करते हैं जिससे ज्ञानशंकर चिढ़ जाते हैं। विद्या के सामने भी वे लांछित हैं। सब ओर से लांछा पाकर वे अन्त में डूबने चलते हैं परंतु डूब नहीं पाते। वे कूटनीति से काम निकालना चाहते हैं—रायसाहब को विष दे देते हैं। रायसाहब दो-चार ग्रास खाकर ही ताड़ जाते हैं परंतु चम-

त्कार-प्रदर्शन के लिये भावावेश में अधिक खा लेते हैं जिससे उनकी दशा दयनीय हो जाती है। अब जानपर आ बनेगी, यह समझ कर गोरखपुर गायित्री के पास भाग जाते हैं।

कथा-विवेचन से स्पष्ट है कि प्रेमाश्रम में दो कथावस्तुएँ चलती हैं एक का सम्बंध लखनपुर से है, दूसरे का ज्ञानशङ्कर से और वे केवल कहीं-कहीं छू भर जाती हैं। इसलिये कि लखनपुर ज्ञानशंकर की अमलदारी में है और इसलिये भी कि ज्ञानशंकर के भाई प्रेमशंकर ही उसकी परिस्थित में सुधार के लिए जिम्मेदार हैं। दोनों कथाएँ महत्वपूर्ण हैं, अलग-अलग की जा सकती हैं। इनका महत्व बराबर का है, दोनों प्रधान हैं, कोई भी आंगिक नहीं है। परन्तु प्रसांगिक रूप में कुछ उपकथाएँ आ जाती हैं जैसे तेज-पद्म का बलिदान या ईजादहुसैन। दोनों प्रधान कथाओं के विकास का क्रम समानान्तर नहीं है। लखनपुर की कथा एक गाँव के बनने बिगड़ने की कथा है। मनोहर की आत्महत्या तक अंश ही मुख्य रूप से हमारे सामने आता है, ज्ञानशंकर पीछे पड़े रहते हैं। मनोहर और बलराज के कारण गाँव से हमारी दृष्टि नहीं हटती। परन्तु मनोहर की आत्महत्या के बाद गाँव की कथा ही समाप्त हो जाती है और एक-आध बार उसकी झाँकी भर मिलती है। वहाँ न संगठन है, न सुख। सब जवान पट्ठे कुछ ताऊन ने कुछ सर्कार ने धर लिये हैं। गाँव श्मशान बना पड़ा है। केवल अंत में दूसरों के प्रयत्न से गाँव में नव-जीवन की दोहाई फिरने लगती है और प्रेमचन्द सतंयुग की झलक दिखा कर कथा को समाप्त कर देते हैं। लखनपुर की इस उत्तर-कथा के साथ-साथ ज्ञानशङ्कर के चारित्रिक पतन की कथा बड़े जोरों से चलती है और हमारी आँख उन पर से नहीं उठती। यह पतन क्रमागत है, भली प्रकार संतुलित है। ज्ञानशङ्कर

की कथा गाँव की कथा से कहीं अधिक पुष्ट कलाकृति है। ज्ञानशंकर की आत्महत्या से ही यह कथा समाप्त होती है।

मनोहर की आत्म-हत्या के बाद प्रेमचन्द गाँव से हट कर कुछ विशेष नागरिकों के चरित्र की बिषमताएँ दिखाने में लग जाते हैं जिससे उन्हें सामयिक परिस्थिति पर कुछ कहने को मिलता है। ये हैं डा० प्रियनाथ (डाक्टर) डा० ईफान अली (बैरिस्टर), लखनपुर के मामले को लेकर ये प्रवेश करते हैं परन्तु इनकी सहृदयता का विकास हो जाता है। उनकी सद्वृत्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं। वे ये पेशे छोड़ कर जनता की सेवा करने लगते हैं और जनसेवी प्रेमशंकर के साथ लग जाते हैं। इन पात्रों के निर्माण में और उस कथा-भाग के विस्तार में जिसमें ये हैं, प्रेमचन्द की आदर्शवादिता काम कर रही है।

उपन्यास के अंत में वे लखनपुर-वालों की सफलता दिखाते हैं। स्वयं गाँव-वालों का चारित्रिक विकास मनोहर की आत्म-हत्या के साथ ही रुक जाता है। शेष भाग में वे निष्क्रिय हैं। उनकी सफलता का सेहरा प्रेमचन्द के प्रयत्न और व्यक्तित्व के सिर है।

प्रेमचन्द यथार्थ से शुरू करते और आदर्श में उनकी कथा का अंत होता है। इसके लिए उन्हें कई पात्रों की हत्याएँ करनी पड़ी हैं। ज्ञानशंकर और गायित्री की हत्याएँ उनके आदर्शवाद में ही प्रेरित हैं। जब उनका राम-राज्य शुरू होता है, तो स्टेज पर विपक्षी दल का कोई भी नहीं रहता। या तो मर-खप कर लोग हट जाते हैं या उनमें हृदय-परिवर्तन हो जाता है।

लखनपुर की कथा उसकी अग्नि-परीक्षा की कथा है जिसके केन्द्र में बलराज और उसका पिता मनोहर है। इस परीक्षा का क्रम है—

१—ज़मीदार की ज़्यादती—घी के लिए रुपयों की बाँट, इजाफा लगान का दावा, अन्य उपद्रव और बेदख़ली।

२—कारिंदे की ज़्यादती—लगान की वसूलयाबी में सख़्ती, कर वृद्धि, अपनी शान बनाये रखने के लिए अत्याचार, तालाब और चरावर की रोक।

३—लश्कर की ज़्यादती (हाकिम परगना का पड़ाव)—दूध की बेगार, पुआले और गाड़ियों की बेगार।

४—पुलिस की ज़्यादती—मुचलके, लश्कर को सामान जुटाने में तहसीलदार की ज़्यादती, घास की बेगार और लीपने जैसे निकृष्ट काम के लिए गाँव-वालों को मज़बूर करना।

'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द एक अभिनव रूप में हमारे सामने आते हैं। अब तक तो वह प्रेम और नयी जीवन की समस्याओं तक ही सीमित रहे, परंतु प्रेमचन्द जैसे खुली दृष्टि वाले कलाकार से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह सामयिक जीवन की हलचलों से अलग रहता। गाँव का उनका अत्यंत निकट का परिचय था। वह स्वयं बनारस के पास के 'लमही' गाँव में पैदा हुए, पले, बढ़े। इसके बाद भी शिक्षाविभाग के डिपुटी इंस्पेक्टर के रूप में गाँवों से उनका संपर्क रहा। १९२१ ई० में गांधी जी के असहयोग आन्दोलन ने जनता का ध्यान गाँवों की ओर फेरा। गांधीजी ने कहा—गाँव ही भारत के प्राण हैं, उन्हें गोरे अधिकारियों, लाल पगड़ीवालों, उनके चौकीदारों और काली चमड़ी वाले ज़मीदारों के भय से मुक्त करना है। ऐसा हुआ, तो गाँव स्वर्ग हो जायेंगे। 'प्रेमाश्रम' के रूप में प्रेमचन्द ने इसी स्वर्ग की कल्पना उपस्थित की। यह स्वर्ग कितना टिकाऊ है, कितना ज़मीदार की सदिच्छा पर यह अवलंबित है, इसकी व्याख्या वह नहीं करते। परंतु वास्तव में इस कल्पनात्मक स्वर्ग (Utopia) के लिए प्रेमाश्रम

महत्वपूर्ण नहीं है। जो परिस्थितियाँ गाँव को उजाड़ देती हैं, जो लोग गाँव को श्मशान बना देते हैं, वे कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। प्रेमचन्द की प्रतिभा ने एक नये और व्यापक क्षेत्र की खोज कर डाली और बाद के उपन्यासों में वे बराबर इस क्षेत्र को लेकर आगे बढ़े हैं। प्रेमाश्रम (१६२१) से गोदान (१६३६) तक उन्होंने भारतीय गाँव के सारे दुख-सुख, सारे हास-परिहास, सारे व्रतोत्सव, सारे श्वास-प्रश्वास लेखनी-बद्ध कर दिये हैं। इस नये मौलिक क्षेत्र के लिए ही प्रेमचन्द चिरस्मरणीय रहेंगे।

इस नये क्षेत्र को प्रेमचन्द ने जिस शक्ति से पकड़ा है वह भी असाधारण है। गाँव का कोई भी पक्ष उनसे छूटा नहीं है और वह गाँव के साधारण किसानों और कमकरों में नायकत्व की स्थापना कर सके हैं, यही कोई कम महत्व की बात नहीं है। वास्तव में गाँव की यह कथा इतनी प्रौढ़ और संगठित है कि ज्ञानशंकर की दुर्बलताओं की कहानियाँ उसके सामने हतप्रभ हो जाती हैं।

## ७

# रंगभूमि ( १९२४ )

डाक्टर इन्द्रनाथ मदन को लिखे हुए अपने एक पत्र में प्रेमचन्द ने "रंगभूमि" को अपना सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना है। तब दिन उन्होंने 'गोदान' नहीं समाप्त किया था, यद्यपि वे उसे लिख रहे थे। हमारी समझ में गोदान, कायाकल्प, रंगभूमि और सेवासदन ये प्रेमचन्द के अमर उपन्यास हैं ! गोदान उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। कायाकल्प और रंगभूमि में से कौन अधिक श्रेष्ठ है यह कहना कठिन है। दोनों इतने आस-पास लिखे गये हैं कि प्रेमचंद की प्रतिभा एक ही प्रकार दोनों में विकसित है। परंतु सब ले-देकर हम तो कायाकल्प को ही अधिक श्रेष्ठ समझेंगे। फिर भी रंगभूमि का पल्ला कम भारी नहीं है। जितनी बड़ी रंगभूमि इस उपन्यास की है उतनी अधिक किसी अन्य उपन्यास की नहीं। इसमें भारतवर्ष के तीनों प्रधान धर्मों का समावेश है। लेखक ने समाज के किसी अंग को नहीं छोड़ा—ग्रामीण भी है, रईस भी है, पूँजीपति भी है, देश सेवक भी हैं—सभी अपना-अपना खेल दिखा कर चले जाते हैं। विद्वान, धनी, अनुभवी, सभी श्रेणी के खिलाड़ी आपके सामने आते हैं और सभी सुखी जीवन का रहस्य न जानने के कारण असफल होते हैं, सभी ठोकर खाते और गिर पड़ते हैं, कर्तव्य से विचलित

हो जाते हैं। केवल एक दीन, हीन, निर्बल, अंधा, दरिद्र प्राणि अंत तक आपको अपनी लीलाओं से मुग्ध करता रहता है और तब उसकी लीला समाप्त हो जाती है; और वह रंगशाला में जाता है, तो आप मन में कह उठते हैं, यही सफल जीवन है, यही जीवनमुक्त पुरुष है, यही निपुण खिलाड़ी है, यही जानता है कि जीवन लीला का रहस्य क्या है।"

( सम्पादक का वक्तव्य )

यह तो स्पष्ट है कि इस उपन्यास पर प्रेमचन्द ने अपनी प्रौढ़तम शक्तियों का समस्त उपयोग किया है और 'सूरदास' की सृष्टि करके उन्होंने अमर कलाकारों में स्थान प्राप्त कर लिया है।

रंगभूमि १००० पृष्ठों का वृहद्काय उपन्यास है और उसमें पात्रों की इतनी प्रचुरता और कथानक की इतनी विशदता है कि साधारण पाठक स्तब्ध रह जाता है। कथाओं का सम्बन्ध काशी, पांडेपुर और जसवन्तनगर इन तीन स्थानों में प्रमुख रूप से है। इन तीनों स्थानों में भी कथा के विस्तार और महत्त्व की दृष्टि से पाँडेपुर मुख्य है। वह काशी से सटा हुआ पुरवा है और काशी के पात्रों के स्वार्थों का उससे घना सम्बन्ध है। जसवन्तपुर की कथा अवांतर कथा है जो चरित्रों के विकास दिखाने के लिये ही गढ़ी गई है।

राजनैतिक समस्याओं की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि उपन्यास का प्रमुख विषय उद्योगीकरण, उसकी कठिनाइयों और उससे उत्पन्न होने वाले कुपरिणामों का विवेचन है। परन्तु प्रासंगिक विषय के रूप में देशी रियासतों की परिस्थितियों में देशी राजाओं की लाचारियों और उनकी प्रजाओं की मुसीबतों की भी झाँकी मिलती है।

सामाजिक दृष्टि से कथा दो हिन्दू-कुटुम्बों, एक मुसलमान कुटुम्ब और एक ईसाई कुटुम्ब से सम्बन्धित है। मुसलमान कुटुम्ब ताहिरअली का कुटुम्ब है और कथा प्रासंगिक है। परन्तु अन्य तीन कुटुम्बों का निकट का सम्बन्ध है। विनय के कुटुम्ब में भरतसिंह (पिता), जाह्नवी (माता) और इन्दु (बहन) है, जो राजा महेन्द्रसिंह से विवाहित हो चुकी है। सोफ़िया के ख़ानदान में ईश्वर सेवक (पितामह), जान सेवक (पिता) मिसेज़ सेवक (माता) और प्रभु सेवक (भाई) हैं। एक अंग्रेज मि० क्लार्क सोफ़िया के कारण इस कथा से गुंथ गये हैं—वे उसे 'कोर्ट' करना चाहते हैं और उसे पा नहीं सकते।

परन्तु यदि हम कथा को पात्रों पर बाँटना चाहें तो (ताहिर-अली को छोड़ कर) कथा के एक बड़े अंश का नायक सूरदास है, शेष का विनय और सोफ़िया।

हम कथा को टुकड़े-टुकड़े करके लेंगे जिससे उसकी स्पष्ट रूपरेखाएँ अंकित हो सकें।

**१—विनय और सोफ़िया**—विनय और सोफ़िया की कथा प्रेमकथा है। सोफ़िया अचानक ही विनय के जीवन में प्रवेश करती है और स्वयम् भी उसी की हो जाती है। सोफ़िया जिज्ञासु और स्वाभिमानी लड़की है। वह धर्म को व्यवहार और ज्ञान की तुला पर तौलती है। परन्तु उसकी मा मिसेज़ सेवक धर्म-कर्म के मामले में बड़ी कट्टर हैं। उनसे यह धार्मिक स्वच्छंदता देखी नहीं जाती। एक दिन जब सोफ़िया के गिरजा न जाने पर वे बिगड़ पड़ती हैं, तो सोफ़ी चुपके से घर छोड़ती है। भटक रही थी कि भरतसिंह के महलों के द्वार पर पहुँचती है। भरतसिंह ने एक सेवा-समिति बनाई है, विनय उसका प्राण है, रिहर्सल हो रहा

है। कहीं आग लगती है, कहीं कोई पानी में डूबने का अभिनय करता है। सहसा विनय आग में फँस जाता है। सोफ़िया जान पर खेल कर उसे बचाती है। वह दो-तीन दिन मूर्च्छित रहती है।

अब वह जाह्नवी की मेहमान है। परिचय पहले ही था। इन्दु उसकी सखी थी। वह वहीं रह जाती है। प्रभु सेवक आता-जाता है। विनय का मित्र हो जाता है। परन्तु मिसेज़ सेवक उसे घर लाने की कोई उत्सुकता नहीं दिखातीं।

विनय सोफ़िया पर मुग्ध है—यह बात जाह्नवी से कहीं छिप सकती है? उन्होंने विनय को आदर्शवादी सिद्धान्तों पर खड़ा किया है—बेटा प्रताप की तरह हो, वैभव को लात मार दे, अकर्मण्य न हो, साधारण न हो! उन्हें यह बुरा लगता है। क्या वह इस प्रेम को आगे बढ़ने देगी? क्या वह विनय के जीवन की हत्या होने देगी? नहीं, वह विनय को हटा देगी।

वह विनय को सेवासमिति के साथ उदयपुर भेज देती है कि जनसेवा में लगे। विनय सोफ़िया को पत्र लिखता है, परन्तु सोफ़ी जाह्नवी के आदर्शों की बलि लेना नहीं चाहती। वह पत्र उसे दे देती है। परन्तु रात को वह उसे पाकर पढ़ने का भी प्रयत्न करती है। पत्र उसे नहीं मिलता। परन्तु दूसरे दिन उसे विनय का घर छोड़ देना पड़ता है। मिसेज़ सेवक मि० क्लार्क से काम बनाना चाहती है—इसीलिए उसे घर लिवा जाती है।

क्लार्क ज़िला मजिस्ट्रेट है। पोलिटिकॅल एजन्ट बनाये जा रहे हैं। सोफ़िया को मालूम है—विनय उदयपुर राज्य का बंदी है। वह उन्हें प्रेम के भुलावे में डालती है और उन्हें उदयपुर ले जाती है। वहाँ वह जेल में मिलती है—प्रेमी-प्रेमिका का मिलन होता है। अंत में सोफ़िया उसको छुड़ाने के लिये अपने अंतिम

हथियारों, प्रेम और सौंदर्य के भुलावे, का प्रयोग करती है। परन्तु जब वह क्लार्क से छुटकारे के परवाने पर दस्तख़त करा जेल पहुँचती है तो विनय जाने से इन्कार करते हैं।

परन्तु एक दूसरी उत्तेजना उन्हें जेलख़ाने से भागने पर मजबूर करती है। पिता भरतसिंह ने प्रेम-विह्वल हो नायकराम पन्डा को भेजा है, वह झूठ-सूठ खबर देता है कि जाह्नवी मृत्यु-शय्या पर पड़ी है, देखना चाहती है। विनय भाग निकलता है, परन्तु संयोगवश उसी दिन जसवन्तपुर में उपद्रव हो जाता है। वह सोफ़िया के मोह में आ, उसे बचाने के लिए, प्रजा पर चोट करता है। वीरपालसिंह और उसके साथी सोफ़िया को ले भागते हैं। अब सोफ़िया के लिये विनय राज से मिल जाता है और उसके दमन-चक्र में सहायक होता है। परन्तु एक दिन जब सोफ़िया से भेंट हो जाती है तो उसकी घृणा से उसका उद्धार हो जाता है। वह स्वयम् क्रांतिकारियों में मिल गई है। विनय राज के दमनचक्र को बदल नहीं सकता। काशी चल पड़ता है। संयोग भी ऐसा होता है कि सोफ़िया भी क्रांतिकारियों के रक्तपात से ऊब कर उसी डिब्बे में आ जाती है। दोनों काशी पहुँचते हैं। जाह्नवी का विद्रोह मिट गया है। वह उन्हें विवाह-सूत्र में बँधा देखकर धन्य होगी।

परन्तु एक दिन पांडेपुर में निरीह जनता फिर अधिकारियों का मुक़ाबला करती है। विनय अब पहला विनय नहीं। वह प्रेम के हिंडोले में झूलता है। अब वह प्रजा से लांछित है, परन्तु अंतिम क्षण में अपनी लांछा को सहन न कर, जनता के बीच में, तोप में मुँह कर कायर बनने का अपमान न सहन कर गोली मार कर आत्म-हत्या कर लेता है। रह जाती है अबोध सोफ़िया जिसे अब विनय की स्मृति ही सब कुछ है। क्लार्क आ

फिर आ गये हैं। उसके स्तब्धभाव को न पहचान कर मिसेज़ सेवक उसे क्लार्क के परिणय-सूत्र में बाँधना चाहती है, परन्तु सोफ़िया कहाँ गई ? उसका प्यारा विनय उसे बुला रहा है। उसने गंगा की गोद में आत्म-समर्पण कर दिया। इस प्रकार यह प्रेमकथा गङ्गा की लहरों में समाप्त हो गई।

पाठक असमंजस में आ जाता है कि यह कैसी विचित्र प्रेम की कथा है—विजय और सोफ़िया के मिलने में बाधा क्या थी ? क्या धर्म ? क्या जाति ? क्या जाह्नवी ? हाँ ये बाधाएँ थीं। जाह्नवी का ऊँचा आदर्शवाद बाधा था, परन्तु काशी में लौटकर आते ही वह समाप्त हो गया। यदि पांडेपुर की यह वारदात न हो जाती, तो दोनों परिणय-सूत्र में बँध जाते। परन्तु ऐसा नहीं हो सका ! दोनों का भाग्य ! दोनों प्रेमियों के ये उद्गार उनके आदर्श प्रधान प्रेमभाव को समझने में सहायक होंगे।

विनय—"× × तुम मेरे लिये आदर्श हो। तुम्हारे प्रेम का आनन्द मैं कल्पना के द्वारा ही ले सकता हूँ। डरता हूँ कि तुम्हारी दृष्टि में गिर न जाऊँ। अपने को कहाँ तक गुप्त रक्खूँगा ? तुम्हें पाकर फिर मेरा जीवन नीरस हो जायगा, मेरे लिये उद्योग और उपासना की कोई वस्तु न रह जायगी। × ×"

सूरदास क्लार्क की गोली का शिकार होता है और अस्पताल में प्राण छोड़ देता है। जीते जी उसने अन्याय के आगे सिर नहीं झुकाया।

परन्तु पांडेपुर की कथा इतनी ही नहीं है; उसमें सभी चरित्रों के विकास की सामग्री मिलती है। भैरों सुभागी को पीटता है, वह सूरदास की झोपड़ी में भाग जाती है। गाँव का कोई आदमी उसकी पीठ पर नहीं खड़ा होता परन्तु भैरों ईर्षा से झोंपड़े में आग लगा देता है और पाँच सौ रुपये की जमा-पूँजी

उड़ा देता है। सुभागी देवी है, वह अन्याय के पैसे पति को कैसे हज़म होने दे। उसे लौटा आती है। परन्तु सूरदास के लिए ये रुपये मिट्टी हैं। इन्हीं के लिए तो भैरों ने अपनी आत्मा को बेचा है। वह भैरों को लौटा देता है।

परन्तु अब की बार भैरों सुभागी को इतना मारता है कि उसे हमेशा के लिए सूरदास की शरण लेनी पड़ती है। सारा गाँव सूरे से नाराज़ हो जाता है।

सोफ़ी—"××प्रेम एक भावनागत विषय है, भावना से ही उसका पोषण होता है, भावना ही से जीवित रहता है; और भावना से ही लुप्त हो जाता है। वह भौतिक वस्तु नहीं है। तुम मेरे हो, यह विश्वास मेरे प्रेम को सजीव और सहिष्णु रखने के लिए काफ़ी है××"

(पृ० ४६१, ४६२)

इतनी ऊँचे प्रेम की परिणिति-कथा दैहिक-मिलन में ठीक होती?

२—**सूरदास की कथा (पांडेपुर की कथा)**—सूरदास और पांडेपुर की कथा एक ही है। वह है एक गाँव के उद्योगीकरण और उसके फैले हुए अनाचार के विरोध की सबल कथा। इस कथा का नायक सूरदास है।

पांडेपुर काशी से मिला हुआ पुरवा है। गाँव के मुखिया हैं नायकराम जो भरतसिंह के पंडा हैं। सूरदास की एक झोंपड़ी है, गाँव के बाहर १० बीघा जमीन है, भाई मर गया है, उसका लड़का मिट्ठू है, इसे वह बड़े लाड़-चाव से पालता है। गाँव में एक मन्दिर है, पुजारी दयागिर है। बजरंगी दूध बेचता है, जमुना उसकी पत्नी है, घीसू लड़का। भैरों ताड़ी बेचता है, सुभागी

( पत्नी ) को रोज़ मारने से उसे काम, या ताड़ी पी कर जी ख़ुश करना ! जगधर खोंचा लगाता है। ठाकुरदीन पान बेचता है। यह छोटा-सा पुरवा ही कथा का केन्द्र है।

सूरदास भीख माँगता है। इसी भीख से उसने ५००) जोड़ लिये हैं कि गया करे, पुरखों को तारे। एक दिन एक बग्घी के पीछे दौड़ता है और पीछे-पीछे चमड़े के गोदाम तक चला जाता है। यही उसकी ज़मीन है। मालूम होता है कि बग्घी-वाले ईसाई जानसेवक सिगरेट की फेक्टरी खोलना चाहते हैं। उस ज़मीन को चाहते हैं। सूरदास राज़ी नहीं होता। पहले सारा गाँव उसका साथी है। जब जानसेवक राजा महेन्द्रसिंह से मिलकर उस प्रस्ताव को पास करा लेते हैं जिसमें व्यवसाय के लिए सरकार ज़मीन ले सकती है, तो सूरदास काशी की गली-गली में गाता हुआ घूमता है और इस अन्याय के प्रति जनता की भावनाओं को जाग्रत करता है। ईश्वर की कृपा से तो नहीं परन्तु सोफ़िया और इन्दु के पारस्परिक द्वेष से उस समय पासा पलट जाता है। ज़मीन सूरदास की ही रहती है। परन्तु कुछ दिनों बाद जानसेवक और महेन्द्रसिंह, उच्चतम अधिकारियों से अपील कर पृथ्वी हड़प लेते हैं। गाँव के लोगों में इस बीच में आपसी मामलों को लेकर फूट पड़ गई है। सूरदास की ज़मीन से सबको फ़ायदा था, परन्तु अब जानसेवक ने सिगरेट-मिल के लाभ का स्वप्न दिखा दिया है।

परन्तु जब फेक्टरी खड़ी होने लगी तो मिल मज़दूरों के बसाने की समस्या उपस्थित हुई। कहाँ बसायें ? आस-पास जगह ही नहीं। क्यों न पुरवे को ही हरजाना देकर ख़ाली करा लिया जाय ? म्यूनिसपेलटी में प्रस्ताव पास हो जाता है। सब विद्रोह करते हुए भी लाचार हैं। सामान बिक जाता है। परन्तु सूरदास

अटल है। जान दे देगा पर उसे नहीं हटना है। गाँव-वाले और काशी की जनता उसके पक्ष में हैं। अधिकारियों को अपनी सारी शक्ति लगा देनी पड़ती है। अंत में जन-मत बिगड़ खड़ा होता है, परन्तु सूरदास हार नहीं मानता। क्या वह सुभागी को निकाल दे? क्या उसे मज़दूरों के आमोद की वस्तु बना डाले? धीरे-धीरे गाँव का नैतिक पतन होता है। लड़के मिल में नौकर हो जाते हैं। एक दिन घीसू और मिठिया सुभागी से कुकर्म करने के लिए झोंपड़ी में घुस जाते हैं। सूरदास दोनों को पकड़ कर सजा दिला देता है। इससे गाँव वाले उससे और भी बिगड़ते हैं।

ऐसे ही कितने प्रसङ्गों ने सूरदास के चरित्र को दृढ़ एवं विकसित किया है और गाँव के पतन की गाथा गाई है।

**३—जसवन्तपुर की कथा**—जसवंतपुर की कथा का संबन्ध विनय और सोफ़िया के कर्मक्षेत्र से है और उसमें देशी राज्यों की दयनीय परिस्थितियों का चित्रण है। कितनी सरलता से सोफ़िया विनय और उसकी सेवासमिति राज की मेहमान बन कर जेल पहुँच जाती है, कर्मचारी कितना अत्याचार करते हैं, महाराज तक मामूली पौलिटिकल ऐजेन्ट से कितना डरते हैं, जनता के सेवक किस प्रकार जान लड़ा कर असफल विद्रोह उठाते हैं, यही सब उस कथा के विषय हैं। प्रेमचन्द ने इस कथा को परिणिति तक नहीं पहुचाया है। हम नहीं जानते कि वीरपालसिंह और उसके आतङ्कवादियों का क्या हुआ और उनके द्वारा हत्याओं का राज्य पर क्या प्रभाव पड़ा? हम नहीं जानते कि बाद में जनता और राज्य के सम्बन्धों में किस प्रकार सुधार हुआ।

**४—ताहिरअली की कथा**—ताहिरअली पहले जानसेवक

के चमड़े के गोदाम के दरोग़ा हैं, फिर मिल के। बेचारे बड़े भले आदमी हैं। स्त्री है कुलज़ुम, लड़का साबिर, लड़की नसीमा। सौतेली मांओं से तीन भाई हैं—माहिर, ज़ाहिर, जाबिर। तीनों बच्चे। इतने बड़े कुटुम्ब को तीस रुपये में पालना है। इस पर बड़ी विमाता जैनब और छोटी रकिया भ्रान लिये लेती हैं। अंत में एक दिन रोकड़ के रुपये निकाल लेते हैं, कई बार ऐसा करते हैं, पकड़े जाते हैं, जेल हो जाती है। अब कुलज़ुम की कड़ी परीक्षा होती है, बेचारी अनशन से पड़ी रही, उसके बालक दाने-दाने को तरसे, कौन पूछता है! माहिरअली पुलिस का दारोग़ा हो गया, परन्तु उसे चचा के इन बच्चों से चिड़ थी। ताहिरअली जेल काट कर आये तो घर की दशा देखकर रो दिये। सारी तकलीफ़ें, क़ुरबानियाँ सारी तपस्या बेकार हो गई। जिस लौंडे के लिए उसने ग़बन किया, वही उसके बच्चों को निकाल दे। आखिर मित्र-मण्डली में बैठे हुए दारोग़ा माहिर-अली के मुँह पर कालिख फेर कर ही दम लेते हैं! घर पहुँच कर उन्हें बड़ी लज्जा हुई कि मैं क्यों ख़ुदा के सामने ख़तावार बना। कुलज़ुम ने भी आड़े हाथों लिया। अन्त में जिल्दसाज़ी का काम करके वे जीवनयापन करने लगे।

**५—ईसाई परिवार की कथा**—ईसाई-परिवार के जीवन की झाँकी हमें कथा के प्रारम्भ में भली भाँति मिल जाती है। वहाँ स्वार्थ ही सर्वोपरि है, धर्म की आड़ में स्वार्थ-साधन भी कम नहीं है। धर्म-बुद्धि की व्यवसाय-बुद्धि के आगे कुछ नहीं चलती। वहाँ स्वतंत्र धर्मचिंतन का स्थान ही नहीं है। अधिकार-वर्ग भी जूती चाटता हुआ ईसाई समाज अधिक-से-अधिक यही चाहता है कि उसका भी औरों-सा ही मान हो, वह भी राजप्रेमी

गिना जाय, अंग्रेज से उसकी लड़की का विवाह हो। इन्हीं स्वार्थों का विरोध करने पर सोफ़िया को घर से निकलना पड़ता है। मिसेज सेवक और जानसेवक सामान्य ईसाई हैं। वे अपने कर्म के प्रतीक हैं।

प्रभुसेवक ईसाई होता हुआ भी ईसाई नहीं है—वह निर्द्वन्द, कल्पना-प्रिय कवि के रूप में चित्रित किया गया है, जो अंत में जनसंघ को अपना लेता है। परन्तु है वह अंत तक कवि। उसकी तो कोई कथा ही नहीं है, चरित्र है।

६—राजा महेन्द्रसिंह और इन्दु—राजा महेन्द्रसिंह और इन्दु पति-पत्नी हैं, परन्तु इनकी भी कोई विशेष कथा नहीं है, केवल चरित्र-चित्रण है जिसके दो रुख हैं—परस्पर पति-पत्नी का सम्बन्ध और महेन्द्रसिंह का सामाजिक एवं राजनैतिक सम्बन्ध। जाह्नवी की तेजस्वी लड़की इन्दु सच ही अधिकारियों की जूती चाटने वाले, भीरु-हृदय, प्रतिक्रियावादी, झूठे साम्यवादी महेन्द्रसिंह की पत्नी नहीं होनी चाहिये थी। परन्तु विवाह तो उसने किया नहीं, माता-पिता ने किया। इसी से इन्दु को बराबर भीतर महेन्द्रसिंह से लड़ने और बाहर उनके पक्ष को सबल करने का दोहरा व्यवहार करना पड़ा। उपन्यास भर में इस वैवाहिक विडंबना का सजीव चित्रण है। महेन्द्रसिंह उच्च आदर्शों से बराबर गिरते जाते हैं, उनकी ज़िंदगी सूरदास को नीचा दिखाने में ही समाप्त होती है; और मरते भी हैं वे उसी की प्रतिमा (मूर्ति) तोड़ते हुये उसके नीचे दब कर। इतनी ईर्षा, इतना द्वेष, केवल कीर्ति की इच्छा से!

इन कथाओं के अंत में परिस्थिति क्या होती है, यह भी जानना आवश्यक है—पाँडेपुर में मिलें चलने लगती हैं, मज़-

दूरों के मकान बन जाते हैं। यह उद्योगीकरण की विजय है, अधिकारियों की जीत है। जसवंतपुर की कथा को प्रेमचंद ने बीच में ही छोड़ दिया—वे जानते थे, देशी राजाओं की समस्याएँ अंग्रेज़ी सरकार की समस्याएँ हैं, उनके हाथ बँधे हैं, वहाँ अराजकता के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। डा० गांगुली कौंसिल के भक्त हैं, परन्तु अंत में उनकी आशावाद का भी अंत हो जाता है। "उन्हें विदित हुआ कि वर्तमान अवस्था में आशावाद आत्मवंचना के सिवा और कुछ नहीं है।" कौंसलें अरण्यरोदन के लिए हैं! उन्होंने त्याग-पत्र भेज दिया और सेवा-दल के काम को बढ़ाने में लग गये। जाह्नवी और इन्दु पहले से ही देशदल के काम को शेष जीवन का ध्येय बना चुकी थीं। सब जानते थे कि यह काम भी सरकार की निगाहों में खटकेगा, परन्तु क्या किया जाय? परन्तु भरतसिंह के धार्मिक विश्वास की जड़ें हिल गई थीं। वे पक्के निराशवादी हो गये। देशभक्ति, विश्वभक्ति, सेवा, परोपकार—ये सब ढकोसला लगने लगे। अब वे ज़िंदगी को हँस-खेल कर काटने वालों में हो गये।

रंगभूमि का सब से उज्ज्वल और शक्तिमान चरित्र सूरदास का है। आरम्भ से अंत तक यह खिलाड़ी इस प्रकार खेलता है कि हम मुग्ध हो जाते हैं, कहीं छल नहीं, कहीं कपट नहीं, कहीं झुकना नहीं। वह बदनामी से नहीं डरता, सुभागी को आश्रय देता है। भैरों ने उसके घर में आग लगाई है, परन्तु वह पहले भैरों का घर बनवायेगा, अपने आप तो वह नीम के नीचे सो लेगा। किसी का दुःख हो, दरद हो, वह तैयार! लोग उसे नहीं पूछें, उससे ईर्षा-द्वेष करें, करें, उसका क्या? वह तो अपना कर्तव्य करेगा। घोर निराशा में भी हाथ पर हाथ धर कर नहीं बैठेगा। वह परिस्थितियों से डरेगा नहीं, अन्याय के आगे झुकेगा

नहीं। फिर इस असीम साहसी और विरागी हृदय में स्नेह और माधुर्य की कितनी गहरी छाया है। उसने उस मिठुआ के लिये क्या-क्या नहीं किया जो उसकी गया करने के लिए भी तैयार नहीं! यही मिठुआ कहता है—"हमारी दस बीघा ज़मीन थी कि नहीं, उसका मावज़ा दो पैसा चार पैसा कुछ तुमको मिला कि नहीं, उसमें से मेरे हाथ क्या लगा? घर में भी मेरा कुछ हिस्सा होता है या नहीं? × ×" (पृ० ८७१)

इस मनुष्य के लिए इतनी बड़ी चोट क्या हो सकती है, परन्तु न मिले गया, न हो क्रियाकर्म! उसने तो वही किया जो उसे करना चाहिये। दूसरे अपना कर्तव्य न निभायें, तो वह क्यों दुखी हो? जिस जानसेवक के बोये काँटे उसने काटे, उन्हीं से वह कहता है—"मेरा तो आपने कोई अहित नहीं किया, मुझसे और आपसे कौन-सी दुश्मनी ही थी। हम और आप आमने-सामने की पालियों में खेले। आपने भरसक ज़ोर लगाया, मैंने भी भरसक ज़ोर लगाया। जिसको जीतना था जीता, जिसको हारना था, हारा। खिलाड़ियों में बैर नहीं होता" (पृ० ८७७)

यहाँ तक कि वह उसे मिठुआ की गोदाम में आग लगाने की धमकी की बात भी बता देता है। सूरदास के रूप में प्रेमचन्द ने देवता की सृष्टि की है। हिन्दी-साहित्य का कोई भी चरित्र इसके जोड़ का नहीं।

परंतु रंगभूमि का और कोई भी पात्र सूरदास की ऊँचाई को नहीं छू सकता—विनय भी नहीं, सोफिया भी नहीं, जाह्नवी भी नहीं! विनय बराबर पतनोन्मुख है—यदि वह अंत में एक व्यङ्ग से प्रभावित होकर आत्महत्या न करता, तो किसी प्रकार भी उसके चरित्र की कालिमा न धुलती। उसके चरित्र में प्रेम और आदर्श का संघर्ष चला। प्रेम ने उसे गढ़े में गिरा दिया। यह

पतन सोफ़ी के साथ उसके विवाह के रूप में समाप्त होता, परन्तु वह तो रहा ही नहीं। प्रेम की सङ्घातक शक्ति और कहाँ मिलेगी? वही कल्पनाजगत में रहने वाला असफल प्रेमी है—उसकी जनसेवा की भित्ति उसकी मनोवृत्ति में मूलस्थ नहीं है, जिस प्रकार कायाकल्प में जगधर की जनसेवा है। वह परिस्थितियों के हाथ खेल जाता है, उनसे लड़ कर उससे ऊपर नहीं उठ पाता। परन्तु सोफ़िया की महानता में जरा भी सन्देह नहीं। वह आदर्श भारतीय नारी का प्रतीक है—जीने में प्रेमी के साथ, मरने पर प्रेमी के साथ। उसने विजय के लिये क्या नहीं किया, क्लार्क से छल किया, अपनी आत्मा को धोखा दिया, परन्तु वह जाह्नवी के आदर्शों में बाधक नहीं हुई। रंगभूमि में सूरदास के बाद सोफ़िया का चरित्र ही हृदय पर सबसे गहरी छाप छोड़ता है। और आदर्शवादी वीर रानी जाह्नवी, जिसने हँस-हँस पुत्र को आदर्श पर चढ़ा दिया, ऐसी नारी क्या हमारी सहानुभूति की पात्र है! विनय के मरने के बाद उसके कार्य-क्षेत्र में स्वयम् उतर पड़ी और उसी में पुत्र को पाया। उसने सब कुछ सेवक-दल को दे दिया। ऐसी तेजस्विता हमारी कितनी माताओं में है।

महेन्द्रसिंह और इन्दु के चारित्र्यवैषम्य का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। अकारण ही, सहज ईर्षावश हो, केवल कीर्ति के लिये, मनुष्य कितना नीचे उतर सकता है, यह महेन्द्रसिंह के चरित्र को देखने से पता लगता है। और नारी की तेजस्विता पति-सेवा पर ही समाप्त नहीं हो जाती, पति को कुकर्म की ओर जाते देख, उसका विरोध भी उसका धर्म है—यह इन्दु से सीखना पड़ेगा। कथा-समाप्ति पर इस दुखी लड़की के लिए भी दो बूँद आँसू निकल ही पड़ते हैं।

रंगभूमि अनेक पात्रों की चित्रशाला है। उनमें कितने ही

अपने वर्ग के प्रतीक हैं जैसे अधिकारीवर्ग के क्लार्क, उदयपुर महाराजा, जेल का दारोगा। कितने ही चरित्र वर्ग के प्रतीक होते हुए भी थोड़ा-बहुत व्यक्तित्व भी रखते हैं जैसे अधिकारियों से डरने वाले सम्पत्ति-प्रिय कुँ० भरतसिंह। कुछ साधारण व्यक्तित्व के मनुष्य हैं जसे नायकराम, भैरों, बजरंगी। प्रेमचन्द ने इन सबका इतनी कुशलता से चित्रण किया है, कि इन चरित्रों के विषय में उनकी सतर्कता और प्रतिभा पर मुग्ध रह जाना पड़ता है।

परन्तु कुलजुम का चरित्र फिर भी हमें आकर्षित कर लेता है। पतिसेवा में, कुटुम्ब-सेवा में, सुख में, दुख में अपनी मर्यादा पर दृढ़ रहने वाली करुणामयी मातृमूर्ति, विवेकशीला पत्नी, धर्म-भीरु नारी।

'रंगभूमि' को प्रेमचंद के सभी समीक्षकों ने श्रेष्ठ उपन्यास माना है। स्वयं प्रेमचंद भी उसको अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति मानते थे। तब तक उन्होंने 'गोदान' नहीं लिखा था। जहाँ तक चित्रपटी की विशालता और चरित्रों की बहुलता का संबंध है, यह ठीक है। लगभग १००० पृष्ठों में सैकड़ों चरित्रों के साथ कथा अवतीर्ण हुई है और उसने समाज, राजनीति और कुटुम्ब के किसी भी वर्ग को नहीं छोड़ा है। रूसी उपन्यासों को छोड़ कर इतनी विशद चित्रपटी और कहाँ मिलेगी? अन्य उपन्यासों की अपेक्षा इसमें कथा-सौष्ठव भी ऊँचे दरजे का है। कथायें भिन्न-भिन्न हैं परन्तु वे सब एक अटूट श्रृंखला से जुड़ी जान पड़ती हैं। परन्तु फिर भी रंगभूमि का क्षेत्र 'प्रेमाश्रम' से भिन्न है। प्रेमाश्रम का क्षेत्र है गाँव। रंगभूमि में गाँव तो है परन्तु ज़मींदारों के अत्याचारों और अधिकारियों की छीना-झपटी की समस्या नहीं है। वह है पूँजीवादी-मशीन-सभ्यता द्वारा गाँवों की मूल शक्ति का उन्मीलन।

पहले का प्रतीक है जॉनसेवक और दूसरे का सूरदास। सूरदास कहता है—"साहब क्रिस्तान हैं। धरमसाले में तम्बाकू के गोदाम बनायेंगे, मंदिर में उनके मजदूर सोयेंगे, कुएँ पर उनके मज़दूरों का अड्डा होगा, बहू-बेटियाँ पानी भरने न जा सकेंगी।...ताड़ी-शराब का परचार बढ़ेगा, कसबियाँ भी तो आकर बस जायेंगी, परदेसी आदमी हमारी बहू-बेटियों को आकर घूरेंगे। कितना अधरम होगा ? दिहात के किसान अपना काम छोड़ कर मजूरी के लालच से दौड़ेंगे, यहाँ बुरी-बुरी बातें सीखेंगे और अपने बुरे आचरन अपने गाँवों में फैलायेंगे। दिहातों की लड़कियाँ-बहुएँ मजूरी करने आयेंगी और यहाँ पैसे के लोभ में अपना धरम बिगाड़ेंगी।" इन कुछ थोड़े से शब्दों में प्रेमचंद ने मशीनी सभ्यता के प्रति अपना दृष्टिकोण प्रगट कर दिया है। गांधीजी का दृष्टिकोण भी कुछ इसी तरह का था। परन्तु सूरदास के हजार विरोध पर भी यांत्रिक सभ्यता की विजय हुई। पांडेपुर में जॉनसेवक की तम्बाकू की फेक्टरी खुल गई। जो सूरदास ने अवांछनीय समझा था, वह सब हो गया। सूरदास की झोंपड़ी भी नहीं बच सकी और गाँव-शहर के इस द्वन्द्व में उसकी जान गई। 'प्रेमाश्रम' जहाँ सामंतशाही के अंतिम रूप जागीरदारी के विरुद्ध गाँव की नई जनता की अधखुली-अधमुँदी आकांक्षाओं की लड़ाई की कहानी है, वहाँ 'रंगभूमि' में गाँव को दूसरा मोर्चा लेना पड़ा है। यह दूसरा मोर्चा पूँजीवाद के विरुद्ध है जो जनहित, कला और सभ्यता के नाम पर गाँवों की रमणीकता और पावनता नष्ट करना चाहता है। प्रेमाश्रम में जागीरदारी की जीत हुई, 'रंग-भूमि' में पूँजीवाद जीता। यह ऐतिहासिक सत्य था। प्रेमचंद भी इसकी अवहेलना नहीं कर सकते थे। 'गोदान' तक पहुँचते-पहुँचते वह समझ गये हैं कि वास्तव में आधुनिक पूँजीवाद जागीरदारी

का ही नया संस्करण है। वास्तव में ये दो मोर्चे नहीं, मोर्चा एक ही है। परन्तु 'गोदान' में प्रेमचंद ने गाँव के बाहरी शत्रुओं की ओर देखना छोड़ दिया है। वह उनसे भी बड़े शत्रुओं की ओर मुड़े हैं। इन शत्रुओं से होरी ने आयु-पर्यंत युद्ध किया।

वास्तव में रंगभूमि में स्वतंत्रता-पूर्व भारत की सारी आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक समस्यायें आ जाती हैं। इतनी विशद चित्रपटी भारतवर्ष के किसी उपन्यासकार ने ग्रहण नहीं की। रवि बाबू ने 'गोरा' में अखिल भारतीय समस्याओं को पहली बार सामने रखा था और 'घरे बाहरे' में राजनैतिक चेतना को औपन्यासिक रूप देने की चेष्टा की थी। शरतचंद्र के 'पथेरदावी' में क्रांतिकारी सशस्त्र आंदोलन का भावुक चित्र है, परन्तु गांधीजी के नेतृत्व में विभिन्न मोर्चों पर देश ने जो युद्ध किया उसकी पूरी झाँकी 'रंगभूमि' में ही मिलेगी। म्यूनिसपिलटी, गाँव और देशी राज्य के तीन मोर्चे इस उपन्यास में साथ-साथ चले हैं। विनय के व्यक्तित्व ने इन तीनों मोर्चों को एक सूत्र में जोड़ा है।

जान पड़ता है, १९२१ के लगभग इस उपन्यास को प्रेमचन्द ने लिखना शुरू किया। १९२४ के लगभग यह उपन्यास प्रकाशित हुआ। इन तीन वर्षों में प्रेमचंद असहयोग आंदोलन की गति-विधि को सतर्कता से देख रहे थे, उन्होंने स्वयं नौकरी से इस्तीफ़ा देकर इस आंदोलन में सक्रिय भाग लेना चाहा था। गांधीजी ने एक ही इशारे से असहयोग आन्दोलन को स्थगित कर दिया, परन्तु इस आन्दोलन ने जनता की जो शक्ति उन्मुक्त की, प्रेमचन्द उसे पहचानते थे। यह स्पष्ट था कि असहयोग आन्दोलन असफल रहा, अभी जनता उसे पूरी-पूरी तरह अपना नहीं सकी थी। परन्तु प्रेमचन्द के औपन्यासिक जगत में उनकी आशावादिता के कारण असफलता की गुंजाइश नहीं थी। सच तो यह है कि

रंगभूमि असहयोग आन्दोलन का चित्र-मात्र नहीं है, वह उससे बड़ी चीज़ है। यह इसी बात से स्पष्ट है कि १६३०-३२ के सत्याग्रह आन्दोलन में उसने लाखों मनुष्यों को कष्ट-सहन के लिए अनुप्राणित किया और नैतिक बल दिया। सूरे और विनय के दो अत्यंत उदात्त चित्र प्रेमचन्द ने हमें दिये थे। इन चरित्रों को उन्होंने किन राष्ट्रीय उपकरणों से गढ़ा, यह कहना कठिन है। परन्तु जनता ने इनमें गांधी और नेहरू की प्रतिच्छाया देखी। अभी तक स्वयं गांधी और नेहरू हमारे राष्ट्रीय जीवन में पूरी तरह खुल नहीं पाये थे। इसलिए प्रेमचन्द की अंतर्दृष्टि की प्रशंसा करनी ही पड़ती है। विनय और सोफ़िया को प्रेमचन्द में थेकरे के 'वेनिटी फेयर' के आधार पर गढ़ा है। 'वेनिटी फेयर' और 'रंगभूमि' में कुछ नाम-साम्य भी है। ऐसा कुछ समालोचकों का कथन है। परन्तु प्रेमचन्द के विनय और सोफ़ी थेकरे के नायक-नायिका से कहीं उत्कृष्ट हैं—एक महान देश की स्वतंत्रता की लड़ाई वे लड़ रहे हैं। फिर सूरदास तो प्रेमचन्द की मौलिक कल्पना है।

केवल असहयोग आन्दोलन ही नहीं गांधीवादी दर्शन की सबसे बड़ी कहानी भी 'रंगभूमि' ही है। अहिंसा, अस्तेय, कष्ट-सहन, आत्मत्याग और अन्याय के प्रतिकार की भावना से पृष्ठ-पृष्ठ भरा है। सूरदास इस गांधीवादी जीवन-दर्शन का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। उसकी मृत्यु भी उसकी पराजय नहीं, विजय है—वह विजय का ढोल नहीं पीटता, परन्तु अन्याय के आगे सिर भी नहीं झुकता। उसने मर कर अपने सिद्धान्तों को अमर बनाया है। विनय भी गांधीवादी है, परन्तु वह इतना दुर्बल है कि वह अपने सिद्धांतों के बोझ के नीचे दब जाता है। सूरदास हमें उठाता है, विनय क्षुब्ध करता है। एक विशेष भावुक परिस्थिति में उसके

आत्मघात ने उसकी दुर्बल, प्रतिक्रियावादी मनोवृत्ति को दबा दिया, उसे लोकप्रियता दी, परन्तु प्रेमचन्द के अन्य नायकों की तरह वह नितांत असफल है, दुर्बलचरित्र है।

८

# कायाकल्प

कायाकल्प प्रेमचन्द का पाँचवाँ उपन्यास है। उनकी अन्य रचनाओं की तरह इस पर भी उनकी रुचि और प्रीति की छाप है। इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने एक रहस्यपूर्ण अद्भुत कथा-चक्र जोड़ दिया है। गाँवों के चित्रण में प्रेमाश्रम की पकड़ यहाँ भी मिलती है, परन्तु इस अद्भुत कथाचक्र से हिन्दी-जगत एकदम चक्कर में पड़ गया था। भ्रम हुआ कि प्रेमचन्द की लेखनी अब किस ओर जा रही है।

इस रचना में कथावस्तुओं का दो विभाजन स्पष्ट ही है। एक का विषय समाज है, दूसरी का जन्मजन्मांतर में चलने वाले प्रेम रोमांच। कदाचित् प्रयास यह है कि मध्यमवर्ग के पाठकों की घटना वैचित्र्य चाहने वाली उत्सुकता को उत्तेजना देकर पुस्तक को मनोरंजक बनाया जाय। परन्तु प्रश्न यह है कि मुख्य कथा का ही रूप मनोरंजक क्यों न बनाया जाय कि अप्रासांगिक रहस्य-रोमांच की आवश्यकता ही न पड़े।

कायाकल्प की कथावस्तु प्रेमाश्रम से भी जटिल है। जिस सामाजिक कथा भाग का हमने ज़िक्र किया है उसमें सामान्य घटनाओं के साथ असाधारण घटनाएँ प्रचुर मात्रा में उपस्थित हैं जैसे आगरे में गोवध का प्रसंग; राजासाहब के तिलकोत्सव पर भीषण दंगे फ़िसाद का होना; जेल में दारोगा के साथ झगड़ा

होना और चक्रधर का ज़ख्मी हो जाना; एक अन्य अवसर हिन्दू-मुसलमानों के दंगे में अहल्या का खो जाना और उसके द्वारा ख्वाजा महमूद के लड़के की हत्या होना। इस प्रकार की घटनाओं को नये पात्रों के प्रवेश के लिये लाया जाता है परन्तु इससे पुराने चरित्रों में भी हमारी उत्सुकता जाग्रत रहती है और चरित्र विकसित एवम् जटिल हो जाते हैं। परन्तु जिस प्रचुरता के साथ ये आकस्मिक घटनायें कायाकल्प में उपस्थित की गई हैं, उसके लिए कदाचित् स्थान नहीं था।

प्रेमाश्रम में दोनों कथावस्तुयें थोड़ी बहुत मिली भी हैं परन्तु यहाँ दोनों लगभग अलग-अलग चलती हैं। अगर अलौकिक भाग न होता तो भी उपन्यास पूर्ण था। अंत में महेन्द्रसिंह के अवतार को चक्र का पुत्र बनाकर दोनों कथाओं को मिलाने की चेष्ठा की गई है। परन्तु महेन्द्र चक्रधर का ही पुत्र क्यों, किसी का भी पुत्र हो सकता था। इससे दोनों में से किसी कथा में भी कोई अंतर नहीं आता।

मज़ा यह है कि उपन्यास का नामकरण अलौकिक रहस्य-रोमांच प्रेम की कथा पर ही हुआ जिससे यह स्पष्ट है कि लेखक की दृष्टि इसी भाग पर अधिक है। आधी पुस्तक का कायाकल्प की कथा से कोई सम्बन्ध न होने के कारण नामकरण स्पष्टतः उपयुक्त नहीं हुआ है। यह बात इससे और भी समर्थन पा जाती है कि कायाकल्प की कहानी समाप्त हो जाने पर भी उपन्यास चलता रहता है। 'कायाकल्प' में दो नदियाँ अपने-अपने उद्गमों से निकल कर बहुत दूर तक बराबर बराबर समानान्तर चली जाती हैं और अंत में सहसा एक दूसरे से मिल जाती हैं।

पहली कथा को हम चक्रधर की कथा कहेंगे और दूसरी कथा को कायाकल्प की कथा। यहाँ-वहाँ से पढ़ने से ही पता लग

जायगा कि पहली का आधार यथार्थवाद है, दूसरी का आदर्श-वाद ( या रहस्यवाद ! ) । गाँव की प्रतिदिन की कथा को नारी की उद्दाम वासना की अनेक जन्मों में चलने वाली रहस्यपूर्ण कथा से प्रेमचन्द ने क्यों जोड़ा, यह भी मनोवैज्ञानिक जिज्ञासा और खोज का विषय है।

कायाकल्प के सामाजिक भाग के नायक-नायिका चक्रधर और मनोरमा हैं। चक्रधर-मनोरमा की कथा ही कायाकल्प में प्रधान भी हैं क्योंकि इन्हीं दोनों की अवस्था-परिणति से पुस्तक का उपसंहार होता है। चक्रधर और मनोरमा का प्रेम ग्रन्थ के सामञ्जक अंश का आधार है। वे दोनों व्यक्ति एक दूसरे पर आसक्त थे,—मनोरमा तो बहुत अधिक, परन्तु कुटिल परिस्थितियों के षड्यंत्र ने उन्हें इतना भी अवकाश न दिया कि वे कभी एक दूसरे से अपने हृदयगत प्रेम का एक शब्द भी कहते। इन परिस्थितियों में चक्रधर की नीति-भीरुता और सङ्कोचशीलता और मिल गई। वे मनोरमा से सदा भागते रहे। मनोरमा उनकी अपेक्षा अधिक निर्भीक थी। उसने अनेक स्थानों पर चक्रधर को अपने प्रेम का आभास दिया, परंतु भीरु और आदर्शवादी चक्रधर अंत तक उससे मुँह मोड़ता रहा, भागता रहा।

कथा का सम्बन्ध तीन परिवारों से है—चक्रधर का परिवार, मनोरमा का परिवार और ठाकुर विशालसिंह का परिवार। 'कायाकल्प' की नायिका देवप्रिया विशालसिंह के भाई महेन्द्रसिंह को व्याही गई हैं और इस प्रकार वह ठाकुर विशालसिंह के परिवार के अंतर्गत ही आती है। मनोरमा के परिवार में है उसके पिता हरिसेवक, भाई गुरुसेवक, पिता की रखेली लौंगी। मनोरमा की माता का देहांत हो चुका है। चक्रधर के कुटुम्ब में चक्रधर हैं, उनके पिता मुंशी वज्रधर और माता निर्मला। ठाकुर विशालसिंह

की तीन पत्नियाँ हैं, बड़ी वसुमती, मझली देवप्रिया की बहन रामप्रिया और छोटी रोहिणी। संतान कोई नहीं है। इन तीनों परिवारों के अलावा समाज-सुधारक यशोदानंदन का परिवार अहल्या के नाते मुख्य कथा भाग से मिल गया है। अहल्या चक्रधर को ब्याही जाती है। अवांतर पात्रों में ख्वाजा महमूद, शंखधर और कितने ही छोटे-मोटे भाग हैं।

ठाकुर हरिसेवक, चक्रधर को मनोरमा के पढ़ाने के लिये नौकर रखते हैं। चक्रधर एम० ए० हैं, गाँव-सुधार-आन्दोलन के सेवाव्रती हैं, ३०) वेतन पर यह काम स्वीकार कर लेते हैं। मनोरमा बालिका है। चक्रधर आदर्शवादी समाजसेवी तरुण। वे बड़ी सतर्कता से मनोरमा को अपने आदर्शों की ओर मोड़ते हैं, मनोरमा प्रकृत्य: उनके निकट है। स्वभाव से उतनी स्पष्ट, निर्भीक और साहसी। पहले मास्टर उससे हार चुके हैं परन्तु चक्रधर उसकी बातें मानकर उसको प्रोत्साहन देते हैं और वह इनकी सफल शिष्या बनती है। धीरे-धीरे मनोरमा उनकी ओर आकर्षित होती है और प्यार होते-होते प्रगाढ़ गोपन प्रेम में बँध जाती है। परन्तु उधर यशोदानंदन अहल्या के लिये वर ढूँढते आते हैं और चक्रधर को मनोरमा से छुट्टी लेकर उनके साथ आगरा जाना पड़ता है। यहाँ हिंदू-मुस्लिम दंगा होना चाहता है। जान पर खेलकर चक्रधर परिस्थिति को विषम होने से बचाते हैं। चक्रधर को समाजसुधार की धुन है। जब उन्हें मालूम होता है कि यशोदानंदन अहल्या के पिता नहीं हैं—उन्हें वह प्रयाग के मेले में ३ वर्ष की बच्ची मिली थी—तो वह सुधारावेश में उसे पत्नी बनाने को राज़ी हो जाते हैं। घटनाचक्र के फेर में पड़कर चक्रधर जेल जाते हैं और वहाँ क़ैदियों और दारोगा में संघर्ष होने पर बीच में कूद कर चोट खा जाते हैं। यशोदानंदन किसी तरह

अहल्या और चक्रधर की जेल में भेंट का प्रबन्ध कर देते हैं—परन्तु स्वयं समाज-सेवा में फँस कर आ नहीं पाते। जेल से छूटने के बाद वे आगरे चले। होली के दिन थे। पहुँच कर मालूम हो गया कि आगरे में हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया, यशोदानन्दन शहीद हुए, अहल्या ग़ायब है। अहल्या ख़्वाजा महमूद के घर बंद थी। उनके लड़के उड़ा लाए थे। परन्तु तेजस्वी अहल्या ने छुरे से उसका ख़ात्मा कर दिया था। ख़्वाजा महमूद जब अहल्या को खोजकर लौटे तो घर में यह गुल खिला पाया। उन्होंने सती के तेज की प्रशंसा की और पुत्र शोक को वज्र की छाती पर सहा। चक्रधर अहल्या विवाहसूत्र में बँध गये और जब चक्रधर बहू को लेकर घर पहुँचे तो उन्होंने देखा कि उनके पिता का इस बे-मा-बाप की कन्या के प्रति विरोध का भाव पुत्र-प्रेम में बह गया है।

परन्तु इस बीच में दूसरी कथाएँ भी आगे बढ़ जाती हैं। जगदीशपुर की रानी 'देवप्रिया' राज छोड़ कर तीर्थयात्रा को चली जाती है और ठाकुर विशालसिंह इस राज्य के मालिक बनकर राजा विशालसिंह हो जाते हैं। मनोरमा के पिता ठाकुर गुरुसेवक सिंह देवप्रिया के दीवान थे, वे अब भी दीवान रहते हैं। परंतु तीन पत्नियों के प्रतिदिन के कलह से थके राजा विशालसिंह मनोरमा पर आकृष्ट हो जाते हैं और उसे रानी बनाना चाहते हैं। मनोरमा भीतर-भीतर चक्रधर से प्रेम करती है परंतु अपने भाव को भली-भाँति से समझना चाहती है कि किसी प्रकार रुपये से उनकी सहायता करती, उनके समाज-सेवाव्रत को प्रोत्साहन देती। वह सरल बालिका ऐश्वर्य की ओर आकृष्ट होती है और राजा विशालसिंह को अपनी देह समर्पित करती है—परंतु क्य। धीरे-धीरे उसका मन भी राजा विशालसिंह का नहीं हो गया

था ? और क्या चक्रधर के प्रति उसका प्रेम धीरे-धीरे भक्ति की सीमा पर नहीं मँडराने लगा था ?

उपन्यास के एक बड़े भाग में राजा विशालसिंह के प्रति मनोरमा का भाव और चक्रधर के प्रति प्रेमभाव (या श्रद्धा भाव ?) का संघर्ष चलता है। चक्रधर राज्य के मज़दूरों का संगठन करते हैं। तिलकोत्सव पर बेगारी की समस्या लेकर राजा साहब और प्रजा में द्वन्द हो जाता है और चक्रधर पकड़े जाते हैं। परन्तु मनोरमा अपने सौन्दर्य और प्रतिभा के बल पर उन्हें अंत में मुक्त ही करा लेती है। अब चक्रधर अहल्या को ले आते हैं और प्रयाग में अड्डा जमाते हैं। उधर कर्तव्य और प्रेम के द्वन्द में मनोरमा खाट को लग जाती है और उसकी मरणोन्मुख अवस्था का तार पाकर अहल्या और नवजात शिशु (शंखधर) को लेकर चक्रधर जगदीशपुर पहुँच जाते हैं।

परंतु निर्वाणोन्मुख मनोरमा चक्रधर और उसके स्नेह के फल शंखधर को पाकर फिर जी उठती है। साथ ही एक अत्यन्त आकस्मिक रहस्य का उद्घाटन होता है। पता लगता है कि अहल्या ही राजा विशालसिंह की खोई लड़की सुखदा से मिलती है। राजा विशालसिंह अब भी निःसंतान हैं, अतः अब शंखधर राज का वारिस है। इस रहस्योद्घाटन से सारे पात्रों का 'कायाकल्प' हो जाता है। कहाँ जनसेवक निर्धन चक्रधर, कहाँ राज का स्वामी। मनोरमा और राजा साहब नई गौरव-गरिमा और स्नेह से पहले मनोरमा और राजा साहब नहीं जान पड़ते। परंतु चक्रधर की जनसेवी आत्मा सोने के कठहरे में कितने दिन बंद रहती। कई दिन के संघर्ष के बाद एक दिन वह सब को छोड़ कर निकल भागता है।

शंखधर बड़ा होता है, धीरे-धीरे चक्रधर के चरित्र की छाया

उस पर भी पड़ती है। वही चंचल आत्मा, वही विलास और वैभव से उदासीनता। धीरे-धीरे उसका पितृ-प्रेम उस पर जादू करने लगता है। तेरहवें वर्ष में वह पिता को खोजने निकल जाता है। पाँच वर्ष तक साधु बालक के रूप में घूमते-घूमते उसे भगवानदास साधु के रूप में चक्रधर के दर्शन होते हैं।

परंतु चक्रधर अब भी विरक्त है, अब भी पुत्र को ग्रहण करने में भीरु है, अब भी उसे वही जनसेवा चाहिये। अहल्या की झूठी चिट्ठी पाकर शंखधर घर चला जाता है और रास्ते में 'देवप्रिया' के अवतार कमला को पत्नी-रूप में ग्रहण कर लेता है। जब वह जगदीशपुर पहुँचता है तो फिर कथानक में प्राण पड़ जाते हैं। परन्तु परिणाम के प्रथम आलिङ्गन में ही उसकी मृत्यु हो जाती है और उसके साथ ही राजा विशालसिंह का भी अंत हो जाता है। जिस सुख के लिये उन्होंने सब कुछ किया, ईश्वर से भी लड़े, वही फिर छीन लिया गया। वह जीते कैसे? अकस्मात् दो तीन दिन बीतते-बीतते चक्रधर भी उपस्थित हो जाता है और अहल्या उसके चरणों में प्राण दे देती है। चक्रधर फिर चल देते हैं। कोई बंधन उन्हें बाँध नहीं सकता।

परन्तु, प्रश्न होता है, इस कथाचित्र में मनोरमा कहाँ है? मनोरमा और चक्रधर! सच तो यह है कि चक्रधर के सारे जीवन के पीछे मनोरमा है। उसने उनके समाज-सेवाव्रत में सहायक होने के लिये ही बूढ़े राजा विशालसिंह को अपना यौवन समर्पित किया, चक्रधर न मिला तो उसने उसके पुत्र शंखधर को ही उस स्नेह के सूत्र के रूप में ग्रहण करना चाहा, वह भी चला गया। मनोरमा और चक्रधर के बीच में अहल्या आई, चक्रधर आया, राजपाट आया, सब चले गये। रह गए मनोरमा-चक्रधर! "रानी मनोरमा नये भवन में रहती है। उसने कितनी ही चिड़ियाँ

पाल रक्खी हैं। उन्हीं की देखरेख में अब वह अपने दिन काटती है। पक्षियों के कलरव में वह अपनी मनोव्यथा विलीन कर देना चाहती है।" चक्रधर को भी "पक्षियों से बहुत प्रेम होगया है। विचित्र पक्षियों की उन्हें नित्य खोज रहती है।" एक दिन सांझ को मनोरमा बाग में टहल रही थी कि उसने एक पहाड़ी मैना का पिंजरा रखा देखा। मनोरमा समीप गई तो मैना बोली—"मोरा! हमें भूल गई? तुम्हारा पुराना सेवक हूँ।" "मनोरमा के आश्चर्य का वारापार न रहा।" पूछने पर मालूम हुआ एक लम्बा आदमी, पके बाल, इसे रख गया है। शायद फिर आये। "रानी पिंजरा लिये हुये चली आई। रात-भर वही मैना उसके ध्यान में बसी रही। उसकी बातें कानों में गूँजती रहीं। कौन कह सकता है यह संकेत पाकर उसका मन कहाँ-कहाँ विचर रहा था। सारी रात वह मधुर स्मृतियों का सुखद स्वप्न देखने में मग्न थी। प्रातःकाल उसके मन में आया, चल कर देखूँ, वह आदमी आया है या नहीं। वह भवन से निकली, पर फिर लौट आई। थोड़ी ही देर में फिर वही इच्छा हुई। वह आदमी कौन है, क्या यह बात उससे छिपी हुई थी?" यह दुखी चक्रधर था! दूसरे दिन वह फिर दो पिंजरे रख कर चला गया और मनोरमा ऊपर के कमरे से उसे आते-जाते देखती रही, देखती रही, हाय! "उसने सोचा, माली अभी बुलाने आता होगा। पर माली न आया और वह आदमी वहीं पिंजरा रख कर चला गया। मनोरमा अब वहाँ न रह सकी। हाय! वह चले जा रहे हैं! तब वहीं ज़मीन पर लेट कर वह फफक-फफक कर रोने लगी।

सहसा माली ने आकर कहा—सरकार, वह आदमी दो पिंजरे रख गया है और कह गया है फिर कभी और चिड़ियाँ लेकर आऊँगा।

मनोरमा ने कठोर स्वर में पूछा—तूने मुझसे उस वक्त नहीं कहा ?

माली पिंजरे को उसके सामने ज़मीन पर रखता हुआ बोला—सरकार, मैं उसी वक्त आ रहा था पर उसी आदमी ने मना किया। कहने लगा अभी सरकार को क्यों बुलाओगे, मैं फिर कभी और चिड़ियाँ लाकर उनसे आप ही मिलूँगा।

रानी कुछ न बोली। पिंजरे में बन्द दोनों चिड़ियों को सजल नेत्रों से देखने लगी।" यह है मनोरमा और चक्रधर के व्यर्थ, निष्फल, असफल, दुखांत जीवन का अंतिम दृश्य। कितना कारुणिक कितना भयावह ! इस दुख भरे पीले प्रकाश में 'काया-कल्प' की सारी कथा चीत्कार करती हुई चमक उठती है !

'कायाकल्प' ( अलौकिक कथा ) के पात्र हैं देवप्रिया, महेन्द्रसिंह, हर्षपुर का राजकुमार, कमला, शंखधर ! परन्तु वास्तव में पात्र दो ही हैं—देवप्रिया और महेन्द्रसिंह। कमला 'देवप्रिया' ही है। इसी प्रकार हर्षपुर का राजकुमार और शङ्ख-धर महेन्द्रसिंह के ही अवतार हैं ( यह कहना अधिक सच होगा कि महेन्द्रसिंह ही हैं )। यह कथा जन्मजन्मांतर तक चलने वाले प्रेम की कहानी है।

देवप्रिया का विवाह राजा विशालसिंह के भाई महेन्द्रसिंह से हुआ था परन्तु मिलन की पहली रात्रि में ही प्रेमाभिलाषाओं को लिए हुये महेन्द्रसिंह चले गये। उनकी मृत्यु हो गई। इधर देवप्रिया विनोद और विलास में अपना जीवन बिताने लगी। उसके बुढ़ापे में भी अल्प तृष्णा थी और अपूर्ण विलासाराधना। "सुधाविन्दु" नाम की औषधि की बूँदे पी-पी कर वह कुछ समय के लिये अपना पहला सौन्दर्य और यौवन प्राप्त करती थी और उसके बल पर नवयुवक राजकुमारों

को ठगती थी। एक दिन हर्षपुर के राजकुमार फँसे। परंतु जब राजकुमार ( इन्द्र विक्रमसिंह ) आये तो उसने शिथिलता का अभिनय किया, उसका चेहरा पीला पड़ गया। 'सुधाबिन्दु' का प्रभाव समाप्त हो चला था। परन्तु राजकुमार ने उसका तिरस्कार नहीं किया। देवप्रिया ने पहचाना—अरे, यही तो हैं उसके पति प्राणेश महेन्द्रसिंह।' इतने वर्ष बाद उसी वय में! राजकुमार ने अपने मृत्योपरांत की कथा सुनाई जो आश्चर्य-चमत्कार से भरी थी—कैसे हर्षपुर में उनका जन्म हुआ, कैसे वे वैज्ञानिक परीक्षाओं में सफल हुए, कैसे एक तिब्बती भिक्षु के आदेश से वे उस तपोभूमि में पहुँचे और वहाँ अगम पर्वत-शिखर पर उन्हें एक ऐसे महात्मा (डार्विन ही थे!) के दर्शन हुए जिन्होंने आधुनिक विज्ञान का योग से संबंध जोड़ लिया था। उन्होंने विज्ञान की सहायता से राजकुमार को पूर्वजन्म के वृत्तांत से परिचित कराया। लौटकर राजकुमार अपनी पूर्व जन्म की प्रेम-पिपासा शांत करने जगदीशपुर देवप्रिया के पास पहुँचे। देवप्रिया बूढ़ी थी, राजकुमार युवक! राजकुमार ने कठिन तपस्या के बाद योग और विज्ञान के उच्चतम प्रयोगों से उसे युवती बना दिया, परंतु जिस क्षण वह वायुयान में चढ़े हुए उसका आलिंगन करना चाहते थे उसी क्षण उनकी मृत्यु हो गई। देवप्रिया 'कमला' नाम से हर्षपुर में तपस्या करती हुई उनके पुनर्मिलन की प्रतीक्षा करने लगी।

अब वे चक्रधर के पुत्र शंखधर के रूप में आये। शंखधर घर जा रहा था कि हर्षपुर का स्टेशन आते ही उसकी पूर्व जन्म की स्मृतियाँ जाग उठीं। वह हतज्ञान, अन्य-शक्ति परिचलित, पूर्वस्मृतियों के बल पर राजमहल में पहुँचा। वहाँ उसे मिली उसकी चिरसंगिनी देवप्रिया (कमला)। शंखधर उसे जगदीशपुर

लिवा लाया—हाँ, उसने पहले उसे विज्ञान के प्रयोगों से युवती बना लिया था। यहाँ भी जब वह प्रथम बार उसके अधर पर प्रणयचिह्न अंकित करने चला कि यमदूत आ पहुँचा। कमला (देवप्रिया) फिर तपस्विनी बनकर प्रतीक्षा करने लगी कि किसी दूसरे रूप में उसका सहचर उसे फिर प्राप्त हो।

विचित्र कथा है। प्रेमचन्द ने इस रहस्य-कथा को शेष कथा से मिलाकर एक इन्द्रजाल की सृष्टि कर डाली है। इसकी रहस्यमयता के कारण बाक़ी कथा पर भी रहस्य का आवरण पड़ गया है। शंखधर की अचानक मृत्यु इसी शाप के कारण हुई जिसका संबन्ध इस रहस्य-कथा से था; परंतु उसकी मृत्यु ने मुख्य कथा के दो प्रधान पात्रों (अहल्या और विशालसिंह) की जान ले ली और मनोरमा और चक्रधर को भीषण खंडहर बना कर जीता छोड़ दिया। कौन कह सकता है कि मनोरमा-चक्रधर और विशालसिंह की कथा का अंत किस प्रकार होता यदि यह रहस्य-कथा मुख्य कथा से शंखधर के व्यक्तित्व में जुड़ न गई होती।

प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों की कथावस्तु को हम समझ सकते हैं, परंतु 'कायाकल्प' की कथाएँ हमें चक्कर में डाल देती हैं। कौन कथा अधिकारिक है, कौन प्रासंगिक! प्रेमचन्द क्या कहना चाहते हैं? मूल बात क्या है? पाठक समझ नहीं पाता। यदि हम विश्लेषण करें तो हम पायेंगे कि इस उपन्यास में कुछ सफल और कुछ असफल प्रेम-कथाओं का विचित्र गुंफन है—

१. ठाकुर हरिसेवक और लौंगी की प्रेमकथा,
२. रोहिणी और विशालसिंह,
३. मनोरमा और विशालसिंह,
४. मनोरमा और चक्रधर,

५. महेन्द्रसिंह और देवप्रिया,
६. अहल्या और चक्रधर।

इन प्रेमकथाओं के भीतर से प्रेमचन्द विवाह, प्रेम और विलास के संबंध को ढूँढ़ते हुए और इनके गूढ़ रहस्यों में प्रवेश करते हुए किसी तथ्य की ओर बढ़ रहे हैं। यह तथ्य ही कायाकल्प की 'कथा-वस्तुओं' का मूल बीज होना चाहिये। शंखधर दीवानखाने में बैठे हुए सोचते हैं—मेरे बारबार जन्म लेने का हेतु क्या है? क्या मेरे जीवन का उद्देश्य जवान होकर मर जाना ही है? क्या मेरे जीवन की अभिलाषाएँ कभी पूरी न होंगी? संसार के और सब प्राणियों के लिए यदि भोगविलास वर्जित नहीं है, तो मेरे ही लिए क्यों हो? क्या परीक्षा की आग में जलते रहना मेरे जीवन का ध्येय है। और उनके अन्तिम शब्द ये हैं—प्रिये, फिर मिलेंगे! यह लीला उस दिन समाप्त होगी जब प्रेम में वासना न रहेगी! तो स्पष्ट है कि प्रेमचन्द यह सिद्धांत हमारे सामने उपस्थित करना चाहते हैं कि वासना प्रेम को कलुषित कर देती है, दैहिक संसर्ग प्रेम के महल को पंक में ढहा देते हैं। जीवन का सत्य है तपस्या, विलास नहीं। सुख-लालसा की तृप्ति इस जन्म में तो क्या, जन्मजन्मांतरों से असम्भव है, इसलिए इसका त्याग ही मानव का ध्येय होना चाहिए। अहल्या की दुखांत गाथा ही मूल में क्या है—उसकी सुख की लालसा, वैभवप्रेम, मोह-बंधन! इनका अन्त क्या है—तृष्णा और दुःख। "अहल्या ने एक बार तृषित, दीन, तिरस्कार-मय नेत्रों से पति की ओर देखा। आँखें सदैव के लिए बन्द हो गईं।" ( पृष्ठ ६१८ ) मनोरमा और चक्रधर की प्रेमकथा का अन्त भी कारुणिक है। ( देखिये—'उपसंहार' ) मनोरमा रानी बनना चाहती थी! वैभव ने प्रेम को कुचल दिया। एक बार

फिर मनुष्य का प्रेम विलास और सुख की लालसा से पराजित हुआ। मनोरमा और विशालसिंह का प्रेम भी क्या मृगतृष्णा की भाँति नहीं है—क्षणिक तृप्ति, भ्रामक तृप्ति! हाँ, चक्रधर के प्रेम में असफल मनोरमा विशालसिंह के प्रति पति-भाव रखकर कञ्चन की भाँति तप कर निखर गई है। परन्तु क्या विशालसिंह से उसका विवाह दो आत्माओं का विवाह था?—क्या उसका चक्रधर के प्रति असफल प्रेम उससे अधिक श्लाघ्य नहीं है? रोहिणी और विशालसिंह की प्रेम-कथा विवाह की विडंबना और विवाह की असफलता पर नारी की जाग्रत, सर्वभक्षी प्रतिहिंसा ही तो प्रगट करती है। पुरुष की उपेक्षा से घुल कर सोलह वर्ष की इस तेजस्वी नारी ने आत्महत्या कर ली!

इन सब वैवाहिक विडंबनाओं और असफल प्रेमों के ऊपर ठाकुर हरिसेवक और लौंगी के प्रेम की स्निग्ध छाया पड़ती है। लौंगी क्या विवाहित पत्नी है? परन्तु वह किस विवाहित पत्नी से कम है? हरिसेवक और लौंगी का प्रेम प्रकृति है, दिव्य है! इस प्रेम के मूल में है नारी की असीमित सेवा, असीमित करुणा, असीमित आत्मसमर्पण। पुरुष का सीमाविहीन विश्वास। यशोदानन्दन की विधवा बुढ़िया वागेश्वरी कहती है—"जब तक स्वामी जीवित रहा उसकी सेवा करने में सुख मानती थी। तीर्थ, व्रत, पुण्य, धर्म सब कुछ उसकी सेवा में ही था। अब वह नहीं तो उसके मर्यादा की सेवा कर रही हूँ।" (पृष्ठ ५३८) तो, प्रश्न तो बाक़ी रहता है, प्रेमचन्द क्या कहना चाहते हैं? जन्म जन्मांतर में प्रेमप्रसङ्ग के चित्रित करने में क्या तथ्य है? जान पड़ता है, प्रेमचन्द स्त्री पुरुष के संबंध को दो स्तरों पर रख कर देख रहे हैं। आध्यात्मिक स्तर पर रखकर वे देखते हैं कि प्रेम अलौकिक है, दिव्य है, मनुष्य को उसका आस्वाद

अप्राप्य है। वासना की झाँईं पड़ते ही प्रेम की मृत्यु हो जाती है। यह प्रेम का आदर्श बहुत ऊँचा आदर्श है, दिव्य आदर्श है। हमारे सब के लिए तो सामाजिक और व्यवहारिक स्तर ही ठीक हैं जहाँ स्त्री-पुरुष के लिए विवाह के सूत्र में बँध कर जीवनपर्यंत और एक की मृत्यु के बाद दूसरे को इस "मर्यादा" की रक्षा करनी है। जन्मजन्मांतरों की बात न हम जान सकते हैं, न जानना भला ही है। परन्तु विवाह तन का नहीं, मन का है। लौंगी आदर्श पत्नी है, वह विवाहिता नहीं, तो क्या? जहाँ स्त्री का पुरुष के प्रति सीमा-विहीन सेवाभाव है, आत्मसमर्पण है और पुरुष स्त्री को अक्षय विश्वास-कोष भेंट करता है, वहीं 'विवाह' है, 'आत्मिक मिलन है', सच्चा पति-पत्नी भाव है। इसीलिए प्रेमचन्द 'विवाह' को महत्व देते हुए भी परिणय सूत्र को ही सब कुछ नहीं मान लेते। परन्तु वे एक पत्नीव्रत के कट्टर समर्थक हैं। विवाह होने पर भी कथा दुखांत हो सकती है यदि पत्नी भोगलिप्सा चाहती है, सुख की लालसा से पति के कर्मपथ में आगे नहीं बढ़ती। अहल्या और चक्रधर की कहानी की यही शिक्षा है।

इतना कहने पर भी 'कायाकल्प' की महत्ता आंकने में नहीं आ सकी। 'गोदान' के बाद यह प्रेमचन्द का सबश्रेष्ठ उपन्यास रहेगा। संसार-साहित्य के प्रेम रोमांचकों में इसका स्थान सुरक्षित है। इस एक उपन्यास में सामयिक आन्दोलनों और अमर समस्याओं को एक ग्रन्थि में गूँथा गया है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी 'कायाकल्प' महत्वपूर्ण है। प्रमुख पात्र हैं चक्रधर, मनोरमा, अहल्या, राजा विशालसिंह, लौंगी ख्वाजा महमूद, यशोदानन्दन, ठाकुर हरिसेवक, वज्रधर, रोहिणी। इनमें ख्वाजा महमूद और यशोदानंदन के चरित्र

तेजस्वी, आदर्शवादी समाज-सुधारकों के चरित्र हैं जो आदर्श पर बलि चढ़ाकर भी प्रसन्न होते हैं। ये 'टाइप' हैं। शेष चरित्रों में व्यक्तित्व का सुन्दर विकास हुआ है। वास्तव में 'कायाकल्प' में चरित्रों का चित्रण दो धरातल पर है—शङ्खधर पिता के प्रति पुत्र के तीव्र प्रेम का प्रतीक है, राजा विशालसिंह की तीन पत्नियों का परस्पर का झगड़ा सौतिया-डाह का चित्र मात्र है। इनका चरित्र श्रेणी या वर्ग से ऊपर नहीं उठता। इसी प्रकार जेल जीवन के दृश्यों में जो पात्र आते हैं, वे भी प्रतीक मात्र हैं। परन्तु इन साधारण पात्रों के बीच में टीले की तरह उठे हुये हैं ऊपर के आसाधारण पात्र!

चक्रधर के चरित्र के दो पहलू हमारे सामने आते हैं। एक उसका सिद्धान्तवादी जनसेवी रूप, दूसरा उसका प्रेमी चरित्र। शुरू से ही उसके विचार स्वाधीन हैं और वह उन्हें बड़ी निर्भीकता से प्रकट करता है। बाद में उसके साहस की परीक्षा के कई अवसर आते हैं और वह उनमें सफल होता है। आगे के गोवध, चमारों की बेगार, जेल के क़ैदियों के दारोग़ा के प्रति विप्लव, इन सभी अवसरों पर वह अपने प्राणों पर खेल जाता है। वह अहिंसावादी है। सरकार का अत्याचार वह नहीं देख सकता, परन्तु जनता का अत्याचार भी उसे पसंद नहीं। उसके चरित्र में हम राष्ट्रीय सेवक और समाज-सुधारक के उन्नत गुणों को चरम सीमा में पाते हैं। उसने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहकर अहल्या को व्याह लिया, यद्यपि माता-पिता इस सम्बन्ध के खिलाफ़ थे। जनता के सम्पर्क में उसका जितना चरित्र खुलता है, उसमें वह महान नेता, राष्ट्रसेवक और सच्चा देशहितैषी है। एक बार ऐश्वर्य की आग में तप कर भी वह कुन्दन होकर निकलता है। उसकी राष्ट्र-सेवा चेतना, त्याग, कष्टसहन और तपस्या

की अनवरत पुकार है। यह पुकार ही उसे जगदीशपुर के महलों से निकाल कर साधु बना देती है। परन्तु जान पड़ता है, प्रेमचंद ने चरित्र के इस पक्ष को हद से अधिक विस्तार दिया है और वे कुछ अस्वाभाविक हो गये हैं। हम जानते हैं कि चक्रधर को स्वभाव से विलास से चिढ़ है, परन्तु जब वह शङ्खधर के साथ घर नहीं लौटता, उसे खुलकर ग्रहण भी नहीं करता, तो हमें अहल्या और अन्य पात्रों के दुःखों की वीथिका में रखकर उसका आदर्शवाद अस्वाभाविक लगता है। अहल्या के निर्दोष जीवन को दुखी बनाने का अपराध क्या उसने ही नहीं किया है? क्या उसकी सिद्धान्तों की कड़ाई ही उपन्यास के दुःखांत का कारण नहीं है? क्या उसने पत्नी और पुत्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा नहीं की? क्या वह राष्ट्रसेवक के लिए आदर्श हो सकता है?

उसका प्रेमी-चरित्र भी स्पष्ट नहीं है—वह नितान्त अप्रगट है। वह जानने लगा है कि मनोरमा उससे प्रेम करती है, परन्तु वह भीरु-हृदय है, इस प्रेम को वह प्रगट नहीं करता। मनोरमा जब राजा विशालसिंह से विवाह कर लेती है, तो वह कर्तव्य के पालन के लिए अहल्या को वरण करता है। परन्तु मनोरमा के प्रति गोपनद्वन्द उसके मन में अंत तक चलता है। वह उसकी सहायता ग्रहण करता हुआ भी उससे दूर रहता है। हम कह सकते हैं कि मनोरमा के दुःखी चरित्र के नीचे बीजरूप में छिपी है चक्रधर की प्रेम-भीरुता।

हम यह भी देख सकते हैं कि चक्रधर के जनसेवा के दो रूप हमारे सामने आते हैं। पहले वह तेजस्वी, व्यवहारिक, जननेता है, परन्तु बाद में जगदीशपुर छोड़ कर वह साधु के भेष में जनता में दवा बाँटता और उनके दुःखों में उनकी सहायता करता

दिखाई देता है। तब हमें आश्चर्य होता है कि क्या यह बाद का रूप उसकी जनसेवा का पहले से अधिक ऊँचा आदर्श है? क्या जनसेवा की परिणति यही है? इस प्रकार हम कितने आगे बढ़ सकेंगे? प्रश्न यह होता है कि वह जीवन के विशाल मार्गों में क्यों नहीं आता, उसे हम बाद में भी जनता के राजनीति-गुरु के रूप में क्यों नहीं पाते? वह जनसेवा के किस आदर्श को हमारे सामने रखता है? क्या यह जगदीशपुर के वातावरण के खिलाफ़ प्रतिक्रिया नहीं है? या, यह मनोरमा के प्रेम का द्वन्द है? क्यों उसने इस प्रकार सेवा को राष्ट्रसेवा का अंतिम रूप मान लिया है, हम नहीं कह सकते। अंत में जब हम उसे मनोरमा के लिए चिड़ियाँ पालते हुए देखते हैं, तो हमारा हृदय करुणा से भर जाता है, परंतु हम नहीं समझ पाते कि उसने अपने जीवन के तारों को किन स्वरों के लिए मोड़ा है, क्यों उसने अपना जीवन निष्फल किया? इस प्रकार चक्रधर का चरित्र अस्पष्ट हो जाता है।

मनोरमा का चरित्र उतना अस्पष्ट नहीं है। उस अबोध बालिका ने अपने (मास्टर) साहब की सहायता करनी चाही थी, यह स्वयम् रस्सी बनना चाहती थी, इन्हीं दो प्रवृत्तियों के वश हो उसने भीतर चक्रधर को प्रेम करते हुये भी बाहर पति-रूप में विशालसिंह को स्वीकार किया और अन्त तक सतीत्व के उज्ज्वल आदर्श पर स्थिर रही। परन्तु उसने सतीत्व के चाहे जिस ऊँचे आदर्श को स्थापित किया हो, उसका जीवन द्वन्द्वों के भीतर फँसकर निष्फल हो गया। कहानी के अन्त में वह हाहाकार से भरे विशाल खंडहर के रूप में ही हमारे सामने पड़ी रह जाती है। किशोरावस्था की एक ग़लती ने इस अत्यंत

तेजस्वी बालिका के जीवन में विष बीज बो दिया है। काश चक्रधर को यह प्रेम मिलता, यह तेज मिलता !

अहल्या का चरित्र भी दुःखों में तपकर हमारी सहानुभूति ग्रहण करता है। वह ग़रीब बालिका थी, परन्तु भोगविलास और कीर्ति एवं ऐश्वर्य्य ने उससे पति छीना, पुत्र छीना। 'ट्रेजिडी' के बीज ख़ुद उसने बोये, परन्तु अन्य पात्रों की तरह वह भी दैव के हाथ का खिलौना बन गई।

राजा विशालसिंह अपने वर्ग के लोगों के प्रतीक तो हैं ही, परंतु उनमें परिस्थितियों के वश, अपना विशेष व्यक्तित्व भी फूट पड़ा है। राजाओं की तरह तीन पत्नियाँ होने पर भी वह मनोरमा से विवाह करते हैं, बुढ़ापे के विवाह में पत्नी के प्रति जितना आकर्षण रहता है, उतना तीव्र आकर्षण उनमें मनोरमा के प्रति है। संतान उन्हें तब भी प्राप्त नहीं होती। शंखधर के साधु होकर लोप हो जाने के प्रति मनोरमा के प्रति भी वे कठोर हो जाते हैं और रोहिणी की हत्या उन्हें बदल देती है। वे विधाता से लड़ने चलते हैं। सोचते हैं—यदि उसने बारंबार प्रयत्न करने पर भी उनका काम बिगाड़ा, तो वह उसके काम को क्यों न बिगाड़ें ! यह विद्रोह जनता के प्रति दमन, अत्याचार और अपने सातवें विवाह की तैयारी के रूप में प्रगट होता है। जब शंखधर आ जाता है, तो वे फिर विधाता से सुलह कर पहले जैसे रसिक, ईश्वर-भक्त, दानशील, प्रजापालक बन जाते हैं। उसकी मृत्यु की आशंका से वे फिर विधाता के सामने खड़े होते हैं। क्या जीवन में उन्हें दुःख-ही-दुःख, असफलता-ही-असफलता देखना है ? क्यों न वह आत्महत्या करलें, जिससे शंखधर की मृत्यु उन्हें न देखनी पड़े। परंतु वे विधि के हाथों का खिलौना बनकर रह

गये। शंखधर की मृत्यु उन्हें देखनी पड़ी। उनके विरोध का महल ढह गया।

ठाकुर हरिसेवक और लौंगी का चरित्र आदर्श प्रेम का चित्र उपस्थित करता है। कर्तव्य-भावना की कितनी ऊँची प्रतिष्ठा जीवन में हो, यह कोई लौंगी से सीखे; और प्रेम किस प्रकार जीवन में संजीविनी शक्ति भरता है, यह हरिसेवक से। लौंगी हरिसेवक की आत्मा थी। वह तीर्थयात्रा को क्या गई, उनका जीवन ले गई! हरिसेवक भीरु हैं, स्वार्थी हैं, विलास के नाते लड़की मनोरमा को बूढ़े विशालसिंह के गले बाँध देते हैं; और अंत समय तक उन्हें इसका पश्चात्ताप रहता है। परंतु लौंगी के प्रति आकांक्षापूर्ण तीव्र प्रेम उनके चरित्र को महानता दे देता है।

ठाकुर साहब की पहली तीन पत्नियों में रोहिणी के चरित्र को ही विशेष वैयक्तिकता मिली। रामप्रिया सहजमनः, निर्द्वन्द, प्रेमप्राणा स्त्री है। वसुमती सौतिया-डाह और छल-कपट का अच्छा उदाहरण है, परंतु रोहिणी रोहिणी है, जो सदैव तनी हुई तलवार बनी रहती है। विशालसिंह ने उस पर अत्याचार किया, उसको विवाहा, उससे प्रेम किया, फिर उसे ठुकराया। रोहिणी ने उनका प्रेम भोगा, ऐश्वर्य भोगा और जब प्रेम और ऐश्वर्य के द्वार उसके लिए बंद हो गये तो उसने पति का बुरा चाहा, उसका पग-पग पर विरोध किया। सोलह वर्ष तक वह यह आशा करती रही कि शायद विशालसिंह फिर उसके हो जायें। और सोलह वर्ष के बाद एक दिन तनकर, उन पर सब कुछ खोल कर, उसने प्राण दे दिया। वहाँ दुःख से घुलकर मरी या उसने आत्महत्या की, यह रहस्य की बात है। परंतु उसके तेजस्वी चरित्र के सम्मुख उसकी अन्य सपत्नियों का चरित्र फीका है।

'कायाकल्प' में जो चीज़ प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों से विशिष्ट है वह है उनका रसनिरूपण। सुख-दु:ख, हर्ष-विषाद, संयोग-वियोग में बदलते हुए मनोभावों का इतना प्रभावशाली, उद्योगमय चित्रण उनके किसी भी उपन्यास में नहीं हुआ है। यही रसनिरूपण उपन्यास की जान है। किसी-किसी पात्र का तो सारा चरित्र ही किसी विशेष रस को लेकर खड़ा किया गया है। जैसे अलौकिक भाग को छोड़ कर शंखधर का चरित्र 'पितृ-प्रेम' की हिलोरों के सिवा क्या है ? पिता शंखधर के प्रति उसे कितनी गहरी उत्सुकता है, कितना गहरा प्रेम है ! पाँच वर्ष की खोज के बाद जब वह पिता के सम्मुख होता है—"सहसा मंदिर में से एक आदमी को निकलते देखकर वह चौंक पड़ा, अनिमेष नेत्रों से उसकी ओर एक क्षण देखा, फिर उठा कि उस पुरुष के चरणों पर गिर पड़े, पर पैर थरथरा गये। मालूम हुआ, कोई नदी उसकी ओर बही जाती है। वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा।

वह पुरुष कौन था ? वही जिसकी मूर्ति उसके हृदय में बसी हुई थी, जिसका वह उपासक था।" ( पृष्ठ ५१४ )

चक्रधर का 'पुत्रप्रेम' देखिये—

"चक्रधर भी कभी-कभी पुत्रप्रेम से विकल हो जाते और चाहते कि उसे गले लगा कर कहूँ—बेटा, तुम मेरी ही आँखों के तारे हो, तुम मेरे ही जिगर के टुकड़े हो, तुम्हारी याद दिल से कभी नहीं उतरती थी। सब कुछ भूल गया पर तुम न भूले×× वह स्वयं अब भी वही रूखा-सूखा भोजन करते थे, पर शंखधर को खिलाने में उन्हें जो आनन्द मिलता था, वह क्या कभी आप खाने में मिल सकता था !" ( पृष्ठ ५४४ )

"सन्ध्या-समय शंखधर अपने पिता से विदा होकर चला।

चक्रधर को ऐसा मालूम हो रहा था मानो उनका हृदय वक्षस्थल को तोड़कर शंखधर के साथ चला जा रहा है। जब वह आँखों से ओझल हो गया तो उन्होंने एक लम्बी साँस ली और बालकों की भाँति बिलख-बिलखकर रोने लगे। ऐसा मालूम होता था माना चारों ओर शून्य है। चला गया! वह तेजस्वी कुमार चला गया जिसको देखकर छाती गज भर की हो जाती थी, और जिसके जाने से अब जीवन निरर्थक, व्यर्थ जान पड़ता था।" ( पृष्ठ ५४६ )

प्रकृति की वीथिका में रखा हुआ नारी की तृष्णा का—जन्म-जन्म की तृष्णा का—रूप देखिये—

"प्रकृति माधुर्य में डूबी हुई है। आधी रात का समय है। चारों तरफ़ चाँदनी छिटकी हुई है। वृक्षों के नीचे कैसा सुन्दर जाल बिछा हुआ है। क्या पक्षि-हृदय को फँसाने के लिए? नदियों पर कैसा सुन्दर जाल है? क्या मीन-हृदय को तड़पाने के लिए? ये जाल किसने फैला रक्खे हैं?

देवप्रिया ने आज अपने आभूषण उतार दिये हैं, केश खोल दिये हैं और वियोगिनी के रूप में पति से प्रेम की भिक्षा माँगने जा रही है। आईने के सामने जाकर खड़ी हो गई। आईना चमक उठा। देवप्रिया विजय-गर्व से मुस्कराई। कमरे के बाहर निकली।

सहसा उसके अन्तःकरण में वहीं से आवाज़ आई—सर्वनाश! देवप्रिया के पंख रुक गये।

देह शिथिल पड़ गई। उसने भीरु दृष्टि से इधर-उधर देखा। फिर आगे बढ़ी।

उसी समय वायु बड़े वेग से चली। कमरे में कोई चीज़ खट! खट! करती हुई नीचे गिर पड़ी। देवप्रिया ने कमरे में

जाकर देखा। शङ्खधर का तैलचित्र संगमरमर की भूमि पर गिर कर चूर-चूर हो गया था। देवप्रिया के अन्तःकरण से फिर वही आवाज़ आई—सर्वनाश! उसके रोएँ खड़े हो गये। पुष्प के समान कोमल शरीर मुरझा गया। वह एक क्षण तक खड़ी रही। फिर आगे बढ़ी।"

इस तृष्णा का अंत है क्षणिक मिलन और अनन्त वियोग। "देवप्रिया की चिर-क्षुधित प्रेमाकांक्षा आतुर हो उठी। अनन्त वियोग से तड़पता हुआ हृदय आलिंगन के लिए चीत्कार करने लगा। उसने अपना सिर शङ्खधर के वक्षस्थल पर रख दिया और दोनों बाहें उसके गले में डाल दीं। कितना कोमल, कितना मधुर, कितना अनुरक्त स्पर्श था। शङ्खधर प्रेमोल्लास से विभोर हो गया। उसे ऐसा जान पड़ा कि पृथ्वी नीचे कांप रही है और आकाश ऊपर उड़ा जाता है। फिर ऐसा ज्ञात हुआ कि कोई वज्र बड़े वेग से उसके सिर पर गिरा।

वह मूर्च्छित हो गया।

देवप्रिया के अन्तःकरण से फिर आवाज़ आई—सर्वनाश! सर्वनाश! सर्वनाश!" ( पृ० ६०६ )

अहल्या का दीप-निर्वाण चित्र इस प्रकार है—"अहल्या ने फिर चेष्टा की। बरसों की चिंता, कई दिनों के शोक और उपवास और बहुत-सा रक्त निकल जाने के कारण शरीर जीर्ण हो गया था। करवट घूम कर दोनों हाथ पति के चरणों की ओर बढ़ाये, पर चरणों को स्पर्श न कर सकी। हाथ फैले रह गये और एक क्षण में भूमि पर लटक गये। चक्रधर ने घबड़ा कर उसके मुख की ओर देखा। निराशा मुरझाकर रह गई थी। नेत्रों में करुण याचना भरी हुई थी।

चक्रधर ने रुँधे हुये स्वर में कहा—'अहल्या, मैं आ गया, अब कहीं न जाऊँगा।'

हाय! ईश्वर, क्या तू मुझे यही दिखाने के लिये यहाँ लाया था?" (पृ० ६१७)

सारे उपन्यास में अनेक रसों और भावों का ऐसा अजस्त्र प्रवाह बह रहा है कि पाठक पल-पल में उसमें डूबता उतराता रहता है। वह कथा की बात भूल जाता है, चरित्र-चित्रण की बात भूल जाता है और उपन्यास के रस-प्रवाह में डूब जाता है। भाषा की सारी शक्ति, मनोविज्ञान और कल्पना की सारी सूक्ष्मता, सारी सूझ, सारी उपज रसपूर्ण प्रसङ्गों को जीवन देने में लगा दी गई है। इसी से यह उपन्यास प्रेममूलक महाकाव्यों की श्रेणी में उठ गया है। जीवन के विभिन्न अङ्गों में आवेगपूर्ण भावों के घात-प्रतिघात के इतने सुन्दर और प्रभावशाली चित्र हिन्दी में कहीं नहीं मिलेंगे। यह भाव ही इतनी प्रेम-कहानियों को एक में गुम्फित किए हुए हैं।

६

## ग़बन ( प्रकाशित मार्च १९३२)

ग़बन प्रेमचन्द का छठा उपन्यास है। इसके बाद उन्होंने हमें "कर्मभूमि" और "गोदान" नाम के दो और उपन्यास दिये। उनका अंतिम उपन्यास "मङ्गलसूत्र" तो अधूरा ही रहा।

ग़बन की कथा का बीज 'गहनों की असार्थकता और आभूषण प्रिय होने की हानि' है। इसे 'गहने की ट्रेजिडी' भी कहा जा सकता है। कथावस्तु मध्यवित्त घराने से संबंध रखती है; क्योंकि आभूषण-प्रियता और वाह्याडंबर इसी वर्ग में सीमा को पहुँच गया है।

जालपा और रमानाथ की शादी हुई। सब गहने चढ़े, परंतु एक चन्द्रहार नहीं चढ़ा। उधर जालपा के मन में संस्कार-रूप से चन्द्रहार की चाह थी। उसके पति रमानाथ ने उसके मोह में आकर म्यूनीसिपल आफिस में ३० रुपये की नौकरी चुङ्गी उघाने की कर ली। जगह आमदनी की थी। उन्होंने गहने ख़रीदे। धीरे-धीरे वह सिर से पैर तक कर्ज़ में डूब गये।

जालपा की सखी रतन के कंगन बनाने के लिये दिये हुये रुपये रमा ने सुनार को दिये तो उसने वे पिछले उधार में काट लिये। रतन के तकाज़े पर उन्होंने दफ़्तर के रुपये लाकर उसे दे दिये। यह ग़बन हुआ। परन्तु जब दूसरे दिन रुपये का

प्रबंध न हो सका तो वे अपने नगर प्रयाग को छोड़ कर कलकत्ते भागे।

इधर इस विपत्ति ने जालपा में प्रतिक्रिया उपस्थित की। उसने कंगन आदि बेचकर ग़बन का तावान भर दिया, कर्ज़ चुका दिया। अब उसका त्याग आरम्भ हुआ।

जब उसे रमा के कलकत्ता होने का पता लगा तो रमा का इतना पतन हो चुका था कि वह माफ़ी के विचार से सरकारी गवाह बन गया था। जालपा ने उसका तिरस्कार किया। अंत में इस पतन के क्षोभ से दुखी होकर रमानाथ ने जज से साफ़-साफ़ कह दिया कि गवाही झूठी है। अभियुक्त बरी हो गये। वह भी छूटा। रमा-जालपा का मिलन हुआ।

यह तो कथा का वह ख़ाका हुआ, जिससे कथा चार सौ पृष्ठों तक अत्यंत रोचकता के साथ चली जाती है। प्रेमचन्द के अधिकांश उपन्यास घटना-प्रधान हैं। अंतर्द्वन्द से कहीं अधिक परिस्थितियों के द्वन्द पर आश्रित हैं। इसी कारण उनमें रोचकता की मात्रा कम नहीं है।

यदि हम कथा का विश्लेषण करें तो हमें पता लगेगा कि कथा के पहले २० अध्यायों का केन्द्र प्रयाग है, शेष कथा कलकत्ते से संबंधित है। इस प्रकार कथा-सूत्र के स्थान-भेद के साथ दो टुकड़े हो जाते हैं। परन्तु दोनों टुकड़ों में रमा की ही कथा प्रमुख है, अतः उसके पतन की कथा उपन्यास की एक सूत्रता बनाये रखती है। यदि पात्रों की ओर दृष्टि करें तो उसमें दो कथायें स्पष्ट हैं—१. रतन की कथा, २ ज़ोहरा की कथा। परंतु सूक्ष्म अध्ययन से पता चलेगा कि कथा की धारा एक ही है। ज़ोहरा की कथा प्रासंगिक रूप से आती है; परंतु वह प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों की प्रासंगिक कथाओं की तरह न प्राधान्य ग्रहण

करती है, न कथासूत्र से विलकुल अलग ही रहती है। इन दोनों कथाओं के पीछे दो उद्देश्य काम कर रहे हैं—

१—प्रेमचन्द रतन के चरित में भारतीय वैधव्य का ऊँचा चित्र उपस्थित करना चाहते हैं।

२—वह जोहरा के चरित्र में वेश्या का हृदय परिवर्तन दिखाना चाहते हैं, जो उनका प्रिय विषय है। इन दो अस्वाभाविक आदर्श सूत्रों को छोड़कर शेष रचना की भित्ति यथार्थवाद पर टिकी है।

कथा के सूत्र के लिये न रतन आवश्यक थी, न जोहरा। रतन के द्वारा प्रेमचन्द रमा की बड़प्पन दिखाने की प्रवृत्ति को दिखाना चाहते थे जो उनके जालपा के संबंध में शुरू से घुस गई थी। परन्तु ऐसा किये बिना भी उपन्यास की कथा निभाई जा सकती थी।

फिर भी यह स्पष्ट है कि इस रचना में प्रेमचन्द कथा की एकसूत्रता की ओर बढ़ते हुए प्रवृत्ति में आदर्शवाद से यथार्थवाद की ओर बढ़ रहे हैं। पिछली बात का प्रभाव नायक (रमा) के चरित्र में स्पष्ट है, कर्मभूमि के अमर से इसकी तुलना की जा सकती है। रमानाथ प्रेमचंद का पहला यथार्थवादी पात्र है।

घटनाओं के विस्तार में अयथार्थता कितनी ही जगह मिलेगी। उपन्यास में जो अदालत का चित्र है, वह स्पष्ट रूप से काल्पनिक है, किसी भी परिस्थिति में संभव नहीं। सरकारी गवाह इतनी शीघ्रता से नहीं बदलते और बदल भी जायें तो बेदाग़ नहीं छूट पाते। जजों को भी प्रेमचन्द के आदर्शवाद का शिकार होना पड़ा है। वह इस प्रकार हृदय-परिवर्तन का अनुभव नहीं करते, न कानून की गद्दी पर बैठ कर भलेमानस ही बने रहते हैं। स्वयं कानून का अपना पंजा है और हाकिम की सदाशयता इतनी

शीघ्रता से प्रभाव नहीं डाल सकती। स्पष्ट है कि परिस्थिति-चित्रण के विस्तार में यथार्थवादी होते हुये भी प्रेमचन्द कथा के विकास में आदर्श का पल्ला नहीं छोड़ते हैं। जहाँ आदर्शवाद और यथार्थवाद में संघर्ष उपस्थित होता है वहाँ वे यथार्थ की बलि देकर समझौता कर लेते हैं।

ग़बन की समस्या एक ऐसी समस्या है जिसे सामाजिक नहीं कहा जा सकता। यह समस्या बहुत कुछ मनोवैज्ञानिक है। प्रत्येक देश और समाज में स्त्री पुरुष की कमाई हुई सम्पत्ति की अधिकारिणी होना चाहती है। हमारे देश में इस आभूषण-प्रियता ने मनोविकार का रूप ग्रहण कर लिया है। ग़बन स्त्री की इसी अर्थ-लिप्सा का इतिहास है। परन्तु उसका आधार आभूषण-प्रियता होते हुये भी उसकी महत्ता नायक के चरित्र-चित्रण में है। प्रेमचन्द ने इस नायक में आदि से अंत तक दुर्बलताएँ दिखलाई हैं। वह अंतर्द्वन्द में सदैव परास्त होता जाता है और अपनी दुर्बलताओं और प्रलोभनों का शिकार होता है। यह प्रेमचन्द का पहला यथार्थवादी उपन्यास है।

मुख्य पात्र रमानाथ है। रमा आदर्शवादी नहीं है, नितान्त यथार्थवादी दुर्बल मनुष्य है। वह परिस्थितियों से लड़ ही नहीं सकता।

'ग़बन' प्रेमचन्द का अन्तिम सामाजिक उपन्यास है और कला एवं दृष्टिकोण की परिपक्वता की दृष्टि से वह उनके सारे सामाजिक उपन्यासों से श्रेष्ठतम है। हमने इस उपन्यास को 'गहने की ट्रेजिडी' कहा है, परंतु कहानी का मूल विषय यही होने पर भी समस्या का यह रूप एक अत्यंत व्यापक समस्या का ही अंग है। यह समस्या है वर्गगत असंतुलन। गहने वर्ग-श्रेष्ठता के ही प्रतीक हैं। हमारे इस पूँजीवादी समाज की सारी व्यवस्था

अर्थ की विभिन्नता पर ही आश्रित है। जिसके पास अधिक धन है, उसका समाज में मान भी अधिक है। जिसके पास जितना भी कम धन है, उसका मान भी उतना ही अधिक है। इस प्रकार वर्गों के एक कोटि-क्रम बन जाते हैं जिसमें सबसे ऊपर हैं राजा-महाराजा और पूँजीपति और सबसे नीचे है कमकर। मध्यवित्त सामाजिक पुरुष इन दोनों वर्गों के बीच में पिसे जाते हैं। पूँजीपतियों के समाज में वह आहत हों, इसके लिए उन्हें धन और ऐश्वर्य का स्वांग बनाना पड़ता है। हमारी पूँजीवादी समाजी व्यवस्था में प्रत्येक निम्न वर्ग उच्चतर वर्ग का स्वांग भरता है। ऐसा किये बिना उसे छुटकारा ही नहीं है। पुरुष के लिए कोट-पेंट, घड़ी-चैन और स्त्री के लिए कीमती सांड़ियाँ और गहने इस स्वांग के दो विभिन्न रूप हैं। जहाँ धन ही सामाजिक श्रेष्ठता का मान हो गया है, वहाँ प्रत्येक पति की आकांक्षा यही होगी कि उसकी पत्नी के अंग पर सब पुरुषों की पत्नियों से अधिक गहने हों और जहाँ स्त्री केवल उपभोग की वस्तु है और केवल देह उसकी उपजीव्य, वहाँ सौन्दर्य को बढ़ाने वाले उपकरण के रूप में गहने उसे विशेष प्रिय हों तो कोई आश्चर्य नहीं। सच तो यह है कि हिन्दू समाज में नारी की हीनता का सबसे बड़ा प्रमाण हिन्दू स्त्री की अलंकार-प्रियता है। इस्लामी धर्मव्यवस्था में 'मुहर' (स्त्री-धन) के रूप में स्त्री की जो अलग सम्पत्ति की व्यवस्था है, वह उसे पुरुष के प्रति सम्मान और सत्कार की वस्तु बना देती है। हिन्दू स्त्री का न कोई दाम है, न पुरुष से अलग उसकी कोई सम्पत्ति है, न जीविकोपार्जन के साधन ही उसके लिए खुले हैं। इसीसे विवाह के अवसर पर वर-वधू पक्ष से दिये हुए सोने-चांदी के अलंकार ही उसकी सम्पत्ति है, जिसकी रक्षा उसे बड़ी सतर्कता से करनी पड़ती है। जहाँ देह

मात्र ही उसका उपजीव्य है, वहाँ यदि गहने ही उसका प्राण हों, तो कोई अन्याय नहीं। इस प्रकार मूल रूप में ग़बन की कथा भारतीय नारी की पारिवारिक और सामाजिक विडंबना की कहानी ही कही जायगी।

आज का मध्यवित्त पुरुष स्त्री की इस स्वाभाविक आकांक्षा की पूर्ति को अपना धर्म समझे, तो उसे दोष देना नहीं होगा। इसी तरह वह अपनी पत्नी का हृदय जीत सकेगा। साथ ही अपने पत्नी के अंगों पर बहुमूल्य अलंकारों का प्रदर्शन करके वह अपनी वर्ग-श्रेष्ठता भी प्रमाणित कर सकेगा। रमानाथ और जालपा की सारी भाग्य विडंबना नारी की इसी सामाजिक हीनता पर आधारित है। वर्गमुक्त समाज में न पत्नी के अंगों पर संसार भर के गहने लादने की चाह पुरुष को होगी, न स्त्री के लिए देह ही उसकी आजीविका होगी। वहाँ श्रम मात्र ही स्त्री-पुरुष के लिए एक समान उपजीव्य होगा। ऐसे वर्ग-मुक्त समाज में रमानाथ और जालपा जैसे पुरुष-नारी को स्थान नहीं मिल सकेगा।

परंतु 'ग़बन' में देहजीवी नारी और वर्गवद्ध पुरुष की कहानी ही नहीं है। सच तो यह है कि वह मध्यवित्त समाज के ऊपर एक अत्यंत शक्तिशाली व्यंग है। इस समाज के सच-झूठ के मान, उसकी दिखावे की भावना, उसकी न्याय-भावना का खोखलापन, उसके प्रेम और ईश्वर-विश्वास की खिल्ली जैसी इस उपन्यास में मिलेगी, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

## निर्मला ( प्रकाशन तिथि १९२७ )

निर्मला सामाजिक उपन्यास है जिसकी कथावस्तु का आधार दो सामाजिक कुरीतियाँ हैं। १—दहेज की प्रथा, २—दोहेजा से विवाह। पिछली कुरीति पहली कुरीति का ही परिणाम है। अतः सेवासदन की भाँति निर्मला भी समस्यामूलक उपन्यास है। परंतु सेवासदन में प्रेमचंद अपेक्षाकृत कहीं अधिक रंगभूमि लेकर चले हैं। कदाचित इसी लिए निर्मला की कथा बहुत संगठित है। उपन्यास में प्रासंगिक कथावस्तु को स्थान नहीं मिला है।

कथावस्तु का संबंध तीन परिवारों से है १—बाबू उदयभानु का परिवार। २—बाबू तोताराम का परिवार और ३—सिन्हा का परिवार। कथा का संबंध कायस्थ-वर्ग से है जहाँ दहेज और फलतः वृद्ध विवाह की कुप्रथाएँ अत्यंत बलवती हैं।

बाबू उदयभानु बिगड़े रईस हैं। कल्याणी उनकी पत्नी है। गोदी में सूर्यभानु है। बड़ा लड़का चन्द्रभानु। कृष्णा और निर्मला दो लड़कियाँ हैं। निर्मला ने अभी अभी यौवन की दहलीज में पैर रखा है। बाबू साहब सिन्हा के यहाँ निर्मला का विवाह ठहराते हैं। वृद्ध सिन्हा और उनके लड़के अर्थ-लोलुप हैं। वह दहेज की बात तो नहीं करते परंतु वैसे २०-२५

हज़ार मिल जाने की उन्हें आशा है। यहाँ उदयभानु बाबू विवाह की तैयारी करते हैं। २० हज़ार का तख़मीना है। रात-दिन लगे हैं। ख़र्च की बात को लेकर पत्नी से झगड़ा हो जाता है। क्रोध में घर छोड़ कर कहीं छिप जाने की बात ठानते हैं कि देखें पत्नी घर कैसे सँभालती है। शहर की एक गली में जाते हुए उन्हें आहट होती है, चोर-लालटेन से देखते हैं तो मतई है जिसे उन्होंने तीन वर्ष की सजा डाके के मुकदमें में दिलवाई थी। उसने पहला बदला निकाला। एक हाथ में ही मुंशी जी का काम तमाम कर दिया।

कल्याणी पर वज्रपात हुआ। वह तो आत्मग्लानि में मर गई। यह क्या हो गया ? अपने पुरोहित पं० मोटेराम को सिन्हा के यहाँ भेजा। सिन्हा और उनके लड़के ने साफ इंकार कर दिया। पं० मोटेराम लौटे तो निर्मला के विवाह की समस्या विकराल रूप में सामने खड़ी हो गई। बड़ी कठिनाइयों के बाद चालीस वर्ष के अधेड़ वकील तोताराम से उसका विवाह संपन्न हुआ। निर्मला ससुराल आई तो उसे नई समस्याओं का सामना करना पड़ा। यहाँ वह विमाता थी। घर में उसकी ही वय का लड़का था मंसाराम। दो छोटे लड़के थे जियाराम और सियाराम। मंसाराम कक्षा में बहुत तेज था, सुंदर सुशील युवक! घर में वकील साहब की विधवा बहिन रुक्मणी मालकिन थी। आते ही लड़कों का पक्ष लेकर उसमें और निर्मला में ठनने लगी। वकील साहब निर्मला का प्रेम चाहते थे परंतु पा नहीं सकते थे। उन्हें अपने में किसी कमी का अनुभव होता था और वह गहने गढ़ा कर, निर्मला को उपहार देकर उस कमी को पूरा करते थे।

निर्मला मंसाराम से कुछ क्षण के लिए पढ़ लेती थी। वकील साहब को इसका पता न था। एक दिन वकील साहब

कचहरी से लौटे तो देखा निर्मला ने शृङ्गार किया है, शीशे पर से कपड़ा उठा दिया है और प्रसन्नचित्त है। इतने में मंसाराम आ गया। वकील साहब उससे अपनी तुलना करके चौंके। उनके मन में प्रथमबार संशय ने जन्म लिया। उन्होंने बे-मतलब मंसाराम को डाँट दिया।

धीरे-धीरे संशय ने विराटरूप धारण किया। मंसाराम को भी इसकी झलक मिली। निर्मला भी समझ गई। मंसाराम दिन भर कमरे में बन्द रहने लगा और निर्मला भी कैसे यह संदेह दूर हो, यह सोच कर घुलने लगी। उधर वकील साहब का संदेह बढ़ने लगा। उन्होंने उसे बोर्डिङ्ग में दाखिल कराने का प्रयत्न किया, परंतु असफल रहे। अंत में एक दिन माँ-बाप की डाँट खाकर मंसा स्वयम् ही बोर्डिङ्ग चला गया। ५-६ दिन बाद ही उसे बुख़ार चढ़ा। मुंशीजी को ख़बर मिली तो पहुँचे परंतु संशय के कारण घर न आकर उसे अस्पताल ही ले गये। वहीं उसकी मृत्यु हुई। परंतु निर्मला मृत्यु से पहले चली आई थी। मंसा ने उसके चरणों पर गिर कर जो कहा था उससे वकील साहब का संदेह अवश्य दूर हो गया।

रह गये सियाराम और जियाराम। सियाराम जियाराम के इशारों पर चलता था, डाँट से सहम जाता। जियाराम बाप को गाली देता, हत्यारा कहता, माँ से लड़ता। एक दिन उसने निर्मला के गहने ही चुरा लिये। पुलिस में ख़बर का तो घर से १००० देकर पीछा छूटा। जियाराम ने ज़हर खा लिया।

इन दो हत्याओं का सियाराम पर प्रभाव न पड़ा हो, यह बात नहीं। अब निर्मला बदल गई थी। कंजूस हो गई थी। वकील साहब भी जी तोड़ कर परिश्रम करते थे। सियाराम को एक-एक चीज़ को पाँच-पाँच बार बाज़ार की दूकान पर लौटाना

पड़ता, तब क़बूल की जाती। एक दिन निर्मला ने उसका लाया घी लौटाया। सियाराम परेशान था ही कि एक साधु मिल गया। वह उसके फाँसे में आकर भाग खड़ा हुआ। वकील साहब कई दिन तक नगर में उसे ढूँढ़ते हुए घूमे। अंत में घर से निकल पड़े। इधर निर्मला अपनी छोटी बच्ची ( आशा ) को लिए रही। रुक्मणी को अब उस पर दया आने लगी थी। होते-होते वह भी एक दिन चल दी। अब कौन दाह दे, यह समस्या थी, तब बूढ़े पथिक तोताराम आ खड़े हुए।

जिन डाक्टर सिन्हा ने मंसा का इलाज किया था—वह वही लड़का था जिससे मुंशी उदयभानु ने निर्मला की बात चलाई थी। सुधा अब उसकी पत्नी थी। मंसा की मृत्यु के बाद दोनों घरानों में मेल हुआ तो बात निकली। अंत में निर्मला प्रेमचंद का तीसरा सामाजिक उपन्यास है। इसमें दोहाजू के सङ्ग विवाह से उत्पन्न समस्याओं का वर्णन है। निर्मला का विवाह बाबू तोताराम वकील से होता है, जिसके तीन पुत्र हैं। एक व्यस्क मंसाराम, दूसरा जियाराम, तीसरा सियाराम। अधेड़ वकील साहब का शंकालु हृदय मंसाराम पर संदेह करता है और वे उसके घर से निकलने के कारण बनते हैं। मंसाराम की मृत्यु हो जाती है। निर्मला का मातृ-स्नेह उमड़ता है, परंतु वह परिस्थितियों से लाचार है। अंत में दोनों लड़के भी हाथ से निकल जाते हैं। जिया विषपान कर लेता है, सिया साधु के साथ निकल जाता है। अंत में वकील साहब भी घर से निकल जाते हैं और एक छोटी बच्ची को छोड़ कर निर्मला परलोक की राह पकड़ती है। यह परिस्थितियों का दुखांत है। प्रेमचंद ने निर्मला को प्रारंभ से अंत तक निरीहा, निर्दोषा सिद्ध किया है, परंतु वह परिस्थितियों के हाथ में खेल जाती है।

उपन्यास वैसे परिस्थितियों का व्यंग है, परन्तु मूल में दोहाजू के विवाह की समस्या बनी हुई है। लज्जित होकर डाक्टर साहब ने अपने छोटे भाई को निर्मला की बहन कृष्णा की शादी को तैयार किया और गुमनाम ४०० के नोट भी दिये। कृष्णा की शादी के दिन यह रहस्य खुला। सिया और वकील साहब के विच्छेद के बाद एक दिन निर्मला सुधा के यहाँ गई तो डाक्टर ने उससे छेड़ की। सुधा को बात मालूम हुई तो उसने उनको खूब ललकारा। फलतः उन्होंने ज़हर खा लिया। निर्मला ने यह दोष भी अपने ऊपर ओढ़ लिया। वही तो अभागिनी घर बिगाड़ू है न ?

उपन्यास वैसे परिस्थितियों का व्यङ्ग है, परन्तु मूल में दोहाजू के विवाह की समस्या बनी हुई है। प्रेमचंद ने इस समस्या का कोई हल नहीं सुझाया। केवल मरणान्मुख निर्मला के मुख से यह कहलाया है "इसका ( बेटी का ) विवाह सुपात्र के हाथ करना।" परन्तु समस्या वैयक्तिक नहीं है, अतः इसका हल भी इतना सरल नहीं है। जब तक समाज से दहेज़ की कुप्रथा नहीं चली जाती, जब तक हमारा समाज सुधार के लिए आगे नहीं बढ़ता, तब तक इस प्रकार के वैयक्तिक सुधारवादी प्रयत्न असफल होते रहेंगे।

परन्तु 'निर्मला' की समस्या केवल दहेज और दोहाजू की समस्या ही नहीं है। ऊपर से देखने पर प्रेमचंद के सारे उपन्यास समस्यामूलक उपन्यास जान पड़ते हैं। परन्तु उनके पीछे मनोविज्ञान की दृढ़ भित्ति है। सच तो यह है कि प्रेमचंद की सभी सामाजिक समस्याओं में वैवाहिक विडंबनाओं का ही चित्रण है। हार्डी की तरह भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न पात्रों को लेकर प्रेमचंद प्रेम, विवाह और नारी के अधिकार के संबंध

में मौलिक प्रश्न उठाते हैं। हो सकता है, वे सज्ञानरूप से यह चेष्टा नहीं कर रहे हों, परन्तु कथानक को जिस प्रकार उन्होंने विकसित किया है, उस तरह ये प्रश्न स्वतः आ जाते हैं।

निर्मला में निर्मला ही दुखी और दुर्भाग्य-ग्रस्त नहीं है, उसी की तरह सुधा भी दुखी और दुर्भाग्य-ग्रस्त है यद्यपि वह अपने पति की पहली स्त्री है। उसे यौवन, धन और सम्मान की कमी नहीं है, परन्तु हिंदू समाज की नारी होने का अभाग्य उसके साथ बँधा है। डा० सिनहा ( सुधा के पति ) वैसे अत्यंत सच्चरित्र हैं, यह जानते हैं कि निर्मला के साथ उनकी शादी हो रही थी परन्तु उनके पिता ने दहेज़ की असमर्थता के कारण यह शादी नहीं की। परन्तु अब तो निर्मला असंतुष्ट और लाचार है। फलतः उनके मन में विकार का जन्म हुआ और एक दिन एकांत पाकर उन्होंने उसके सामने अपना कुप्रस्ताव रखा। सुधा को इस बात का पता लगा तो उसने उन्हें बहुत बुरा-भला किया। इतना कि लज्जित डाक्टर ने आत्महत्या कर ली। यह स्पष्ट है कि इस घटना से हिंदू विवाह की दुर्बल भित्ति ही दिखलाई पड़ती है। जो सूत्र वर्षों के बाद भी इतना दुर्बल बना रहे कि एक ही झटके से टूट जाये, वह भी कोई सूत्र है ? बात यह है कि हमारे यहाँ विवाह प्रेम की पुकार नहीं, सामाजिक बंधन मात्र है और ज़रा सा बोझ पड़ने पर ही टूट जाता है। उसमें पूर्व राग का पता नहीं, स्त्री-पुरुष की समान सामाजिक और आर्थिक स्थिति का स्थान नहीं और एक बार असंतुष्ट होने पर विच्छेद की कोई गुंजाइश नहीं। निर्मला का दुःखांत तो वृद्ध पति की शंकालु प्रकृति के कारण हुआ, परन्तु डा० सिन्हा की आत्महत्या पति-पत्नी के अधिकार, विच्छेद और पति-पत्नी के बीच क्षमा और सहिष्णुता के भाव से संबंध रखती है।

जो हो, यह निश्चित है कि निर्मला का कथा-संगठन अत्यंत उत्कृष्ट है और उसमें भारतीय कुटुम्ब की एक परिस्थिति विशेष का बड़ा सुन्दर मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। मुंशी तोताराम की अस्वस्थ मनोस्थिति ही सारे दुखांत का कारण, एक के बाद एक तीनों बेटे चले जाते हैं, परन्तु निर्मला उसके लिए किस तरह ज़िम्मेदार हुई। यहीं समाज की अवतारणा हुई। नारी की सामाजिक हीनता के कारण ही पुरुष उस पर अपने दोष थोपता आया है। कथा के अंत में निर्मला सब ओर से टूटी, अभागी और लांछित होकर, सब के दुर्भाग्य को अपने ऊपर ओढ़कर जब मर कर शांति प्राप्त करती है तब हम उसके प्रति इतने संवेदनाशील नहीं होते जितने उस समाज पर क्रोधित होते हैं जिसने स्त्री को तन बेचने का ही अधिकार देकर और कहीं का नहीं रखा।

११

## कर्मभूमि : प्रकाशन-तिथि १९३२

कर्मभूमि ३०-३२ के काँग्रेस आन्दोलन के बीच में हमारे सामने आया और उसने भी वही लोकप्रियता शीघ्र ही प्राप्त कर ली जो पहले रंगभूमि को मिली थी, परन्तु कितने ही पाठकों और आलोचकों को दबे सुर से कहते हुए सुना गया कि रचना "रंगभूमि के आगे हेठी है।"

कर्मभूमि कथा का सार्थक नाम है। उसमें क्रियाशील जीवन का चित्रण किया गया है। क्रियाशीलता के भीतर से ही पात्रों का विकास होता है। कर्म ही यज्ञ है। अमर ( नायक ) स्वयं कर्म का प्रतीक है। उपन्यास की कथा का तात्पर्य है—सिद्धान्त बने नहीं रहते। परिस्थितियाँ मनुष्य को सीधी, चुनी हुई राह पर चलने ही नहीं देतीं। कर्म से अधिक वर्ग शिक्षक संसार में दूसरा नहीं है। जैसा पुस्तक की भूमिका से जान पड़ता है प्रेमचन्द ने इसमें ऊँचे आदर्शों का ध्यान रखा है। कदाचित इसी ऊँची परन्तु अव्यावहारिक और अ-मनोवैज्ञानिक आदर्शवादिता का साकार रूप मुन्नी है।

लाला समरकांत दिल्ली के अत्यंत मालदार लेकिन हद दरजे के कंजूस सेठ हैं, उन्होंने भी दूसरे बीसियों साहूकारों की

तरह अपनी महान धनाढ्यता धोखे-धड़ी से खड़ी की है। उनकी दो शादियाँ हुईं लेकिन अब कोई पत्नी जीवित नहीं। पहली पत्नी से इनका इकलौता लड़का अमरकान्त है और दूसरी से एक लड़की नैना। अमरकांत को अपनी शिक्षावस्था में भी खर्च के सम्बन्ध में कठिनाई का सामना करना पड़ता है क्योंकि सेठ जी समझते थे कि जो रुपया पढ़ने लिखने पर खर्च होता है, यह फ़िज़ूल खर्ची है। जब पढ़ ही रहा था तो अमरकांत का विवाह लखनऊ की एक मालदार विधवा की सुन्दर, फैशन पर प्राण देने वाली, अहंवादी, तेज इकलौती लड़की सुखदा से हो जाता है। अमरकान्त पहले से ही अपने परायों की घुड़की से बेज़ार था। इस गरीब को बीबी भी मिली तो ऐसी कि मुहब्बत से अधिक हुकूमत करती। दोनों के स्वभाव जैसे विपरीत ध्रुव हों। यह सादगी पसन्द, उसे २४ घंटे सोलह शृंगार से फुरसन नहीं मिलती। अन्त में जब अमरकांत की पढ़ाई-लिखाई खत्म हो गई तो सेठ जी ने कहा कि वह घर का कारोबार सँभाले और उन्हें घर-गृहस्थी की झंझटों से आज़ाद करे। अमरकान्त को पिता के छल फरेब के ढंग सीखने से नफरत थी, भला वह उनके चरण चिन्हों पर कैसे चले? वह सब कुछ छोड़ कर घर ही से निकल खड़ा होता है और हरिद्वार के करीब एक गाँव में जाकर डेरा जमाता है। वहाँ उसने गरीब चमारों के बच्चों को शिक्षा देना शुरू किया। अछूतों के लिए मन्दिरों के दरवाज़े खोलने के लिए एक सफल सत्याग्रह होता है, उसमें सुखदा प्रधान भाग लेती है। अन्त में मज़दूरों के लिए घर बनाने की ज़रूरत होती है। अमरकांत की पत्नी और कुछ दूसरे स्थानीय नेताओं की इच्छा थी कि एक विशेष भूभाग इस काम के लिए दिया जाय लेकिन बोर्ड इसे स्वीकार नहीं करता। फल यह होता है कि बोर्ड के इस

फ़ैसले के ख़िलाफ़ हड़ताल होती है जिसमें अमरकांत की स्त्री, पिता, सास और उस्ताद डाक्टर शान्तिकुमार गिरफ़्तार हो जाते हैं। उसकी बहन नैना शहीद बन जाती है। यह बलिदान रङ्ग लाता है। बोर्ड सब माँगें पूरी करता है और मज़दूरों की बस्ती बन जाती है।

जहाँ अमरकान्त है वहाँ भी इस तरह की ही परिस्थितियों का चक्र चल रहा है। सुखदा कार्य-क्षेत्र में आगे बढ़ गई, वह पीछे रह गया। इस भाव की लांछा से अमर आगे कूद पड़ता है। प्रेमचन्द ने इस उत्तेजना का उल्लेख इन शब्दों में किया है—"शासन का वह पुरुषोचित भाव मानों उसका परिहास कर रहा था। सुखदा स्वच्छंद रूप से अपने लिए मार्ग निकाल सकती है, उसकी उसे लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है, यह विचार उसके अनुराग की गर्दन को जैसे दबा देता था। सुखदा उससे पहले समर में कूदी जा रही है, यह भाव उसके आत्म-गौरव को चोट पहुँचाता था।"

किसानों पर लगान वसूली के लिए स्वीकृतियाँ होती हैं। इससे प्रभावित हो मालगुज़ारी कम करने का आन्दोलन होता है। अमरकांत इस आन्दोलन का प्राण है। हुकूमत सख्ती करती है, पकड़ धकड़ शुरू होती है। अमरकांत और कितने ही कार्य-कर्ता जेल में ठूँस दिये जाते हैं। अन्त में कुछ लोगों के बीच में पड़ने से सरकार एक कमेटी बिठा देती है कि परिस्थितियों पर खोज करके रिपोर्ट करे। दोनों आन्दोलनों के क़ैदी लखनऊ जेल से एक ही दिन छूटते हैं। इस तरह सब बिछुड़े खुशी खुशी मिलते हैं।

इस प्रधान कथा के साथ अप्रासङ्गिक रूप से मुन्नी की कहानी चलती है। गाँव की रहने वाली है। दो गोरों ने उस

पर बलात्कार किया है। इससे उसके धर्मिष्ठ हृदय में भीषण प्रतिक्रिया उठती है। प्रेमचंद के शब्दों में वह सोचती है—"उसकी जिस अमूल्य वस्तु का अपहरण किया गया था, उसे कौन याद दिला सकता था? दुष्टों को मार डालो, इससे तुम्हारी न्याय बुद्धि को सन्तोष होगा, उसकी तो जो चीज़ गई, वह गई"

शायद प्रेमचन्द यह कहना चाहते हैं कि भारतीय स्त्री में सतीत्व की भावना बड़ी ऊँची है और उसका आधार संस्कार जन्य मनोभाव है। इसके बाद मौका पाकर एक दिन मुन्नी दो गोरों की हत्या कर देती है। वह पकड़ ली जाती है और उस पर मुक़दमा चलता है। नगर के संभ्रान्त, जिनमें अमरकान्त भी है, मुकदमें में भाग लेते हैं, चन्दा उघाते हैं। आखिर मुन्नी बरी हो जाती है। परन्तु वह अपने पति और बच्चे की छाया से बचना चाहती है—ऐसा घृणित समझती है अपने को। पहले मरने का प्रयत्न करती है। जब नहीं मर सकती तो हँस बोल के जीवन बिता देना चाहती है। अब वह चमारों के गाँव में पहुँच गई है। यहीं अमरकांत से उसकी भेंट होती है। धीरे धीरे दुर्बल मनोबल वाला अमरकान्त मुन्नी की ओर आकृष्ट होता है; परन्तु मुन्नी सतर्क है, मुन्नी आगे नहीं बढ़ने देती। स्वयं मुन्नी जब उसकी ओर बढ़ती है तो अमरकांत संकुचित हो जाता है।

प्रश्न यह उठता है कि चरित्र-चित्रण और वस्तुविन्यास में प्रधानता किसे दी जाय। भाग्यवादी उपन्यासकारों के उपन्यासों का कथानक घटनाओं द्वारा संचालित होता है, किन्तु जो लेखक यह समझते हैं कि पात्र स्वयं अपना निर्माण करते हैं, विषम से विषम परिस्थिति में स्वयम् मार्ग ढूँढ़ लेते हैं, स्वालम्बन और क्रियात्मक कार्य में विश्वास करते हैं, उनके पात्र समाज का स्वयम् निर्माण करते हैं। पात्र प्रधान कहानियाँ जीवन की मीमांसा

करने में अधिक सहायक होती हैं। पात्रप्रधान होने के कारण उनमें जीवन की असीम शक्ति रहती है। वे चरित्र-चित्रण के बदले जीवन की समस्त क्रियाओं को परीक्षा रूप से निरूपण करते हैं। उनकी कथाओं में दैवी घटनाओं की प्रधानता रहती है। कहानी विनोद-व्यङ्गपूर्ण भले ही हो, घटना भले ही आश्चर्यान्वित कर दे, परन्तु ये मानवीय विकास का प्रदर्शन करने में असफल रहते हैं। कारण कि वे तो यही जानते हैं कि चाहे जितना प्रयत्न करो वही होगा जो भाग्य में लिखा होगा। ऐसी दशा में वे भाग्य के या घटनाओं के पुतले हो जाते हैं और वे घटनाएँ ही पात्रों का निर्माण करती हैं। मानवीय शक्तियों के खोजने का कोई साधन नहीं रह जाता। मानवजीवन का आकर्षण और रहस्य पात्र प्रधान कहानियों में ही है। व्यक्ति के भीतर अभिव्यक्ति का नाम ही संसार है। अतएव जितना ही व्यक्तित्व का विश्लेषण किया जायगा उतना ही जीवन का विश्लेषण होगा, जीवन की समीक्षा होगी। इसमें संदेह नहीं कि वस्तु और पात्र एक दूसरे से प्रभावित होते हैं परन्तु प्रधानता पात्र की ही होती है।

कर्मभूमि पात्रप्रधान है, यद्यपि कुछ घटनाएँ ऐसी रखी गई हैं जो पात्र का मार्ग प्रशस्त करती हैं; जैसे गोरों द्वारा बलात्कार से सताई अबला की घटना से सलीम और अमर को प्रभावित करके उनके लिए नवीन कर्मपथ प्रशस्त किया गया है। यह एक ऐसी घटना है जिसने कर्मभूमि को शक्ति दी है। आगे चलकर इसी स्त्री ने दो गोरों की हत्या की है। अमर के दिनरात के परिश्रम के बाद मुन्नी छूटती है किन्तु मर्यादाहीन होकर बच्चे को झटक कर चली जाती है। आदर्शवादी होने के कारण प्रेमचंद ने मुन्नी को रिहा तो करा दिया परन्तु वे उसे सामाजिक जीवन में ग्रहण नहीं कर सके।

कर्मभूमि में प्रेमचन्द ने पात्रों के कार्य का विकास बड़े मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से किया है। पात्र-विकास का प्रधान साधन जन-सेवा है। इसके दो सूत्र हैं :—

१—अमरकान्त जो दलित जातियों के प्रति सहानुभूति प्रगट कर उनका उत्थान करता है।

२—सुखदा—नागरिक संघर्ष में म्युनिसिपैल्टी से ज़मीन दिलाती है।

अमर कर्मयोगी है। उसकी सहायता सलीम द्वारा होती है। अमर स्वयम् वातावरण बना लेता है। उसे किसी की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु सुखदा के अनेक सहायक हैं—पठानिन, समरकांत, शांतिकुमार, रेणुका और अंत में नैना। कथा के बीच में प्रेमचन्द ने नैना की मृत्यु का आयोजन किया है। वह उसे विलासी निर्दयी पति के हाथ में पड़ जाना सहन नहीं करना चाहते, अतएव उन्होंने एक सद्कार्य में उसकी मृत्यु हो जाना ही उचित समझा है।

अमर का विकास संघर्षमय परिस्थितियों में किया गया है। महाजनों की नौकरी ही इस बात का संकेत करती है कि उसके अन्दर स्वावलम्बन का बीज है जो समय पाकर अंकुरित होगा।

कथावस्तु में कुछ घटनाएँ मनोरञ्जन के लिये भी रखी गई हैं, जैसे स्त्री की मर्यादा और विजातीय प्रेम। किन्तु प्रेमचन्द सकीना और अमर के प्रेम को इतना बढ़ा कर भी उनका विवाह नहीं होने देते कि हिंदू मर्यादा भंग हो जायगी। सुखदा का जीवन अंधकारमय हो जाय, यह वह नहीं देख सकते।

अन्त में, कथावस्तु की चर्चा समाप्त करते हुए हम यह कहना चाहेंगे कि प्रेमचन्द पात्रों का विकास करते हैं, घटना को प्रधानता

नहीं देते। वह मानवीय समाज के प्रति सहानुभूति प्रगट करने की ओर उन्मुख हैं। इस प्रकार वे साधारण उपन्यासकार की कोटि से ऊपर उठ जाते हैं।

कर्मभूमि के प्रधान चरित्र हैं अमर, सुखदा, नैना, सकीना, समरकान्त और सलीम। प्रेमचन्द ने इनका विशद चित्रण किया है, यद्यपि छोटे मोटे और भी कितने पात्र आते हैं। चरित्र-चित्रण में पहली बात जो आकर्षित करती है, वह यह है कि लेखक का आदर्श इतना शक्तिशाली हो गया है कि सब पात्र एक विशिष्ट पथ की ओर अग्रसर होते हैं। अमरकांत-सुखदा जिस सूत्र का संचालन करते हैं उसके लिये जेल जाकर विजय प्राप्त करते हैं तो कोई बात नहीं, किन्तु जीवन के विभिन्न वातावरणों में कार्य करने वाले इतने प्रभावित हो जायें और जेलखाने भर दें यह बात ऐसी है कि इसमें वे अपने आदर्श और स्वतंत्र विचार से न दब कर लेखक के आदर्श से दबे हैं। प्रेमचन्द के आदर्शवाद ने सभी चरित्रों को आदर्श पर गढ़ा है। नहीं तो, भिन्न व्यक्तियों, भिन्न-भिन्न वर्गों के भिन्न परिस्थितियों के पात्रों का एक ही आदर्श की ओर आकर्षित हो जाना क्या सम्भव है? इसी आदर्शवाद के कारण चरित्र-चित्रण में अस्वाभाविकता आ गई है, कथा भी विकृत हो गई है। सलीम को इस्तीफ़ा देने की क्या जरूरत थी? मित्र होते हुए भी वह विरोध करता तो कदाचित् उसका चरित्र अधिक मनोवैज्ञानिक होता और यदि सलीम विजयी अमर से मिलता तो शायद अच्छा होता। यदि सलीम इस्तीफ़ा न दिये होता तो सलीम की जय होती। फिर एक स्थान के छोटे से आन्दोलन में इतने मनुष्यों को एक आदर्श में जकड़ देना अच्छा नहीं हुआ।

परन्तु समरकांत का परिवर्तन स्वाभाविक है और उसके

लिये प्रेमचन्द ने परिश्रम किया है। उसका पुत्र, पुत्रवधू आदि सभी जेल चले जाते हैं तब अत्यन्त मानसिक संघर्ष के बाद समर राष्ट्रीय जीवन में उतरता है। उतने संघर्ष से और पात्रों का मन भी परिचित नहीं। इसी से प्रतीत होता है कि पात्र प्रेमचन्द के आदर्शवाद से दब गये हैं।

फिर इस उपन्यास में संघर्ष की भावना है, विरोध है, परन्तु वह हलका है। अमर के सामने पिता का विलासमय जीवन और सुखदा की उच्छृङ्खलता है। वह संघर्ष भी पुत्र होने पर भाग जाता है, परन्तु वह कालेखाँ से अब भी कड़ा नहीं लेता। यदि भिन्न प्रकार के पात्र आ जाते और उसके आदर्श के रास्ते में खड़े हो जाते, तो संघर्ष भली प्रकार प्रस्फुटित हो जाता। परन्तु विरोधी पिता है, वात्सल्य से पूर्ण है, और अमर अपने आदर्शों और विचारों से इतना दबा है कि लड़ नहीं पाता, भाग खड़ा होता है।

संघर्ष जो है वह अमर के भीतर से है, बाहर नहीं है। अमर का कोई भी प्रतिद्वन्दी नहीं है। भीतर के गढ़े हुये आदर्शों से ही उसका संघर्ष है। इसी से संघर्ष में विकास के लिए अधिक स्थान नहीं है। प्रेमचंद ने एक दुर्बल परन्तु आदर्शवादी चरित्र को परिस्थितियों के विद्रोह में खड़ा किया है और उसमें शक्ति भरने की चेष्टा की है। वह आरम्भ में ही कहता है—

"हमें धन की जरूरत नहीं है। जीवन में परीक्षा करना चाहता हूँ।" (पृष्ठ १५)

"जो आदमी उपार्जन न कर सके, उसे सिनेमा देखने का अधिकार नहीं।" (पृष्ठ २०)

यही आदर्श उपन्यास के बीज हैं, सूत्र हैं। इन्हीं को लेकर अमरकान्त नहीं बैठ सकता। वह जीवन की प्रयोगशाला में खद्दर बेचना शुरू कर प्रवेश करता है। "अमर ने तिरस्कार भरे भाव से कहा—मैं मजदूरी कर सकता हूँ और दिखा सकता हूँ कि मैं मजदूरी करके जनता की सेवा कर सकता हूँ।" (पृ० ५३)

यही आदर्शवादिता उसे कर्मक्षेत्र में आगे बढ़ाती है। पहले नगर की कांग्रेस कमेटी का मेम्बर बन जाता है, फिर मुन्नी के मामले को हाथ में लेता है, फिर घर से भाग कर चमारों के सुधार की समस्या में अटकता है, अंत में लगानबंदी के आन्दोलन पर समाप्त करता है।

अमर के चरित्रविकास की कथा में सकीना और मुन्नी की कथाएँ प्रासङ्गिक रूप से ही आती हैं। चमारों के गाँव में मुन्नी के होने की क्या ज़रूरत थी—उसके न होने पर भी सुधार के लिए क्षेत्र उपस्थित था। फिर मुन्नी का सारा चरित्र इतने ऊँचे आदर्शवाद पर खड़ा किया गया है, कि अस्पष्ट हो जाता है। चूँकि मुन्नी पतित हो गई है, इसलिये उपन्यासकार ने उसे पति से मिलने नहीं दिया परंतु यही मुन्नी फिर अमर को लेकर प्रेम का खिलवाड़ किस ऊँचे आदर्शवाद को लेकर करती है? मुन्नी को लेकर प्रेमचन्द ने हिन्दू स्त्री का एक ऊँचा चरित्र हमें देना चाहा है। हमारे कुछ अपने धार्मिक विश्वास हैं। उनमें से एक सतीत्व की भी भावना है। प्रेमचन्द ने यह दिखाया है कि यह भावना समाज में कितनी गहरी पहुँच गई है, कि हमारी पत्नियाँ उसे किस प्रकार अनुभूति-मात्र से ग्रहण कर लेती हैं। मुन्नी के दृष्टिकोण से यही सिद्ध किया गया है कि हिन्दू नारी अपने पतिव्रत के सम्बन्ध में कितनी सतर्क, सूक्ष्मान्वेक्षिणी

और दृढ़ रहती है। परन्तु उत्तर भाग में प्रेमचन्द कथा की सुंदरता में बह गये। शायद यह बताना चाहते हैं कि परिस्थितियाँ मनुष्य को क्या कर देती हैं।

'कर्मभूमि' बड़ा सार्थक नाम है। प्रेमचन्द यह दिखाना चाहते थे कि जीवन के विकास के लिए अन्तर्द्वन्द की आवश्यकता है, विशेष कर भिन्न-भिन्न प्रकार के आदर्शों में मनुष्य कर्म करता है—और उसी के द्वारा यह विकास प्राप्त होता है क्योंकि परिस्थितियाँ मनुष्य को टकराती हैं तो उसकी प्रवृत्तियों को धक्का लगता है और वह एक हद तक बदलने की चेष्टा करती हैं। भावनाओं के क्षोभ के कारण जो आत्मपीड़न होता है, वही समय मिलने पर मनुष्य को दूसरा आदमी बना देता है। अमरकांत को लो। दुबला पतला तो था ही, पर साथ ही उसकी मनोवृत्तियाँ भी इतनी ही दुर्बल थीं। बड़े घरानों में पिता या अभिभावक का एकतंत्र शासन होने के कारण लड़के की जो दुर्गति हो गई है, वह उसकी भी हो गई थी। उसमें आत्मविश्वास नहीं था, साहस नहीं था, संक्षेप में वह कर्मभूमि के लिए तैयार ही नहीं हो पाया था। बाद को सुखदा-जैसी दृढ़-विश्वासी और साहसी लड़की से विवाह होने से कारण कुछ इस तरह की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई कि वही अमर दूसरों के दुख-सुख के लिए सब कुछ सहन करता है। वह सुखदा को बढ़ावा देने पर पिता से अलग हो जाता है। छोटी-सी गृहस्थी का भार उसके सिर पर पड़ता है। तब वह कर्मशील हो जाता है।

प्रेमचन्द का इस कथा में संदेश यह है कि तप, साधना और ज्ञान के अतिरिक्त मानसिक भावनाओं के विकास का एक और मार्ग भी है। वह साधारण जनों का मार्ग है—संसार को स्वीकार करो, उसमें निरंतर संघर्ष है, व्यक्तियों का, भावनाओं का,

आदर्शों का और उसमें गुज़रते हुए धीरे-धीरे उसी शांति की ओर बढ़ोगे जो किसी भी कठिन व्रत साधना से मिले। इसी से तुमने देखा है कि उपन्यास के अंत में प्रेमचन्द ने अपने पात्रों के जीवन में आई हुई शांति की ओर इशारा किया है। कर्म का फल अवसाद नहीं होना चाहिये, वह तो अमरशांति का पेश-खेमी है।

१२

## गोदान ( १९३६ )

अपने अन्य वृहद् उपन्यासों की भाँति प्रेमचंद ने अपने अंतिम उपन्यास गोदान में भी दो कथावस्तुएँ रक्खी हैं। उनमें एक मुख्य हो, दूसरी प्रासङ्गिक यह बात नहीं। दोनों कथाएँ सामानांतर रेखा पर लगभग बिना मिले ही चली जाती हैं। एक कथा का नाम हम 'होरी की कथा' रख सकते हैं और दूसरी कथा को 'राय साहब और उनके मित्रों की कथा' कह सकते हैं।

दोनों कथाओं में सम्बन्ध केवल इतना है कि होरी का लड़का गोबर मिर्ज़ा के यहाँ नौकर हो जाता है और होरी का गाँव राय साहब की ज़मींदारी में है। दोनों कथाएँ इतनी असंबद्ध हैं कि उनके अध्यायों को अलग-अलग कर देने पर दो भिन्न-भिन्न उपन्यास बन जाते हैं। वास्तव में, राय साहब और उनके मित्रों की कथा उपकथा न होकर नागरिक जीवन का रेखाचित्र मात्र है। यदि प्रेमचंद कथावस्तु को होरी के जीवन-चरित्र तक ही सीमित रखते तो वह अत्यन्त श्रेष्ठ कलाविज्ञता का परिचय देते। परन्तु प्रासङ्गिक कथा रखने की जो मनोवृत्ति इनमें थी, वह पूर्णतः तुष्ट न होती। वास्तव में एक दृष्टिकोण से यह दोनों कथाएँ क्रमशः ग्रामजीवन और नागरिक जीवन की कथाएँ हो जाती हैं।

गोदान में प्रेमचंद का दृष्टिकोण पहली बार बदला है। उन पर वस्तुवादी सिद्धांतों और कलाकारों का गहरा प्रभाव पड़ा है। अब तक वे आदर्शवाद के पोषक थे। अब उनके यथार्थ-चित्रण ने आदर्शवाद का चोला उतार दिया है और वह अपने नग्नतम रूप में उपस्थित हुआ है। इस उपन्यास में प्रेमचंद एक साथ समाज, व्यक्ति, धर्म, ईश्वर, न्याय सब के अस्तित्व पर शंका उपस्थित करते हैं और इनके शिकंजे में फँसा हुआ मानव जीवन कितना पंगु हो जाता है, यह बताते हैं। इसीलिए उनका होरी उनके अन्य ग्रामीण पात्रों और उनके उपन्यासों के और नायकों से मिला है। वह पग-पग पर रूढ़िग्रस्त, कुटुम्ब की इज्जत पर प्राण देने वाला, भीरु, आदर्शवादी और असफल मनुष्य है। वह सचमुच आधुनिक ग्रामीण का सच्चा प्रतिनिधि है। उसके जीवन की असफलता से ही प्रेमचंद ने अपने पिछले आदर्शवादी दृष्टिकोण पर चोट की है।

दोनों कथाओं को अलग-अलग रखना ठीक होगा।

## होरी की कथा

होरी बिहारी गाँव का महतो है। ४-५ बीघे ज़मीन जोतता है। छोटा सा आसामी है परन्तु अपने परिश्रम से अपनी प्रतिष्ठा बनाए हुए है। पत्नी है धनिया, पुत्र गोबर है। दो भाई है सोभा और हीरा। दोनों को उसी ने पाला-पोसा, विवाह किया। खुद उसके दो लड़कियाँ हैं सोना, रूपा। सोना विवाह के उम्र की है। उसकी होरी को चिंता है। विवाह के बाद भाइयों ने लड़-झगड़ कर बँटवारा कर लिया है। अलग-अलग रहते हैं। इससे होरी की आर्थिक स्थिति और भी विषम हो गई है।

हाँ, होरी व्यवहार जानता है। सरल हृदय राय साहब को सलाम कर आता है। इससे थोड़ी सहूलियत भी है।

आज वह इसी तरह राय साहब के यहाँ जा रहा था। अपनी ऊख की खेती को लहलहाता हुआ देख कर भविष्य की कल्पना करने लगा—कि फ़सल हो गई, परमात्मा की दया हुई तो वह एक पछांईं गाय ले आयेगा परन्तु "न जाने कब यह साध पूरी होगी, कब वह शुभ दिन आयेगा।......हर एक गृहस्थ की भाँति होरी के मन में भी गऊ की लालसा चिरकाल से सञ्चित चली आती थी। यही उसके जीवन का सबसे बड़ा स्वप्न, सबसे बड़ी साध थी।" रास्ते में भोला से भेंट हुई जो इसी गाँव (बिहारी) से मिले पुरवे का ग्वाला था। मन की साध जाग उठी। भोला की बहू लू लगने से मर गई थी। उसे अब भी स्त्री की लालसा थी। होरी ने उसे आस दिलाई तो वह उसे ८० रुपये की पछाँईं गऊ सौंपने को राजी हो गया। फिर उससे भूसे की कमी की शिकायत की। होरी सज्जन था। किसी को कष्ट देकर लाभ नहीं उठाना चाहता था। उसने गऊ लेने से इंकार कर दिया। परन्तु उसे (भोला को) मुफ़्त में भूसा देने का वचन दिया। दूसरे दिन भोला घर आया और धनिया के कहने-सुनने पर भी होरी गोबर को साथ ले तीन टोकरी भूसा भोला के घर डाल आया। यहाँ गोबर की भेंट भोला की विधवा कन्या झुनिया से हुई। दोनों जी दे बैठे।

सब कुछ तो हट गया था पर बाँस बचे रह गये थे। होरी ने उन्हें दमड़ी बसोर के हाथ १५०) नफ़े पर बेच दिया। बसोर काट रहा था कि हीरा की पत्नी पुनिया ने विरोध किया। अच्छा खासा झगड़ा उठ खडा हुआ। ख़ैर, झगड़ा शांत हो गया। शाम को गोबर गाय लेकर पहुँचा जो अँगनाई में बाँध दी गई।

बड़ी अच्छी गाय थी, सब देखने आए, हीरा-पुनिया न आये। होरी को यह बात खटक रही थी—परंतु धनिया जानती थी हीरा ईर्ष्या के मारे जला जा रहा है।

परंतु होरी तो भाइयों पर जान देने वाला, कुटुम्बियों पर प्राण देने वाला ठहरा! उसे चैन कहाँ? वह हीरा और शोभा को गाय देखने के लिए बुलाने चला। अँधेरे में उसने सुना हीरा और शोभा दोनों बातें कर रहे हैं उसके विषय में—कि बँटवारे के पहले के रुपये हैं जो निकल रहे हैं। उलटे पाँव लौट आया।

एक दिन हीरा ने गाय को माहुर ही दे दिया। होरी यह बात जानता था, धनिया से कह ही दी और इस पर तूफ़ान मच गया। हीरा उसी समय घर से भाग गया। चौकीदार ने पुलिस में इत्तला की। थानेदार आये—उन्होंने गरज कर कहा—हमें हीरा के घर की तलाशी लेनी है। इस बार फिर होरी का कुटुम्ब का अभिमान जाग पड़ा। चाहे जो हो, तलाशी न हो। हीरा है नहीं। उसकी अनुपस्थिति में तलाशी होगी, उसकी नाक कटेगी कि जायगी। वह कर्ज़ लेकर घूस देने के लिए तैयार हो गया परंतु धनिया ने तेजस्वी बन कर सबको चकित कर दिया। थानेदार (दारोग़ा) चुप-चुप लौट गये और होरी की इज़्ज़त भी बच गई।

हीरा ग़ायब था। उसकी स्त्री पुनिया घर बैठी थी। वह अकेली जान, कैसे काम-काज सँभाले? होरी ने ही हीरा के खेत गोड़े, तन-मन एक कर दिया, सारा कष्ट अपने ऊपर ओढ़ लिया। परन्तु इस विपत्ति में एक घटना ऐसी हो गई जिसने उसकी कमर ही तोड़ दी।

गोबर का झुनिया से हेल-मेल रङ्ग लाया। झुनिया को पाँच

महीने का गर्भ था कि वह होरी के दरवाज़े आ खड़ी हुई। गोबर भाग गया परन्तु होरी और धनिया ने उसकी बात निभाई। संसार भर के लांछन सहे। तावान में सारा खलिहान तौल दिया और ८० रुपये पर मकान भी गिरवी रख दिया। बैल भी चले गये। अब वह किसान से मज़दूर हो गया। पं० दातादीन ने आधी बँटाई पर खेतों के लिये बीज और बैलों का बन्दोबस्त कर दिया। संक्षेप में, इस घटना के बाद बिरादरी की पूजा कर होरी का कुटुम्ब खेतिहर से मजदूर बन गया। झुनिया के लड़का हुआ मंगल, परन्तु गोबर का अब भी पता नहीं था। उसने लखनऊ में नौकरी कर ली थी। पैसा-पैसा जोड़ रहा था। वर्ष भर के बाद वह घर लौटा तो घर की बिगड़ी दशा देखकर चकित हो गया। उसने दो सौ रुपया जमा किये थे, उनका बल था। वह गाँव का छोकरा नहीं था, शहर में जाकर चालाक और व्यावहारिक हो गया था। उसने होरी को कर्ज़ की दलदल से छुटाने के लिए चातुरी के अस्त्रों का प्रयोग किया—परंतु होरी की रूढ़िप्रियता, उसका संस्कार-भीरु-हृदय, उसका सीधापन, उसका जीवन-दर्शन पग-पग पर उसके बाधक बनते। वह हार गया और चिढ़कर अपनी स्त्री-बच्चे को लेकर गाँव चला गया।

जो रहा था, होरी ने उसे बेच कर सोना का बिवाह किया। अब वह कंकड़ ढोने लगा था। सोना के विवाह में गोबर नहीं आ सका था। परंतु रूपा के विवाह में आया। उसने माता-पिता की दयनीय दशा देख कर भी कुछ नहीं किया, उसका इल्ज़ाम उन्हीं पर रखा। वह लौट गया। होरी ने संतोष की साँस ली। वह अपने पापों का फल आप ही भोगना चाहता था।

इतने में हीरा लौटा। होरी ने इतने दिनों उसकी गृहस्थी पाली थी, उसकी आँखों में कृतज्ञता के आँसू थे। होरी इतने में

ही धन्य हो गया। उसने अपने जीवन को सार्थक समझा। परंतु उसकी देह बराबर गिरने लगी थी। एक दिन उसे मजदूरी करते हुए लू लग गई। धनिया उसे डोली में डालकर घर ले आई। घर पहुँच कर होरी चंद घंटों का ही मेहमान रहा।

## राय साहब और उनके मित्रों की कथा

रायसाहब और उनके मित्रों की कथा 'गोदान' की मुख्य कथा नहीं है। वह पूर्ण रूप से कथा भी नहीं कही जा सकती। यदि हम उसे अवांतर प्रसंग कहें तो यह ठीक होगा। यह अवांतर प्रसंग मुख्य कथा के समानान्तर चलता रहता है, कहीं-कहीं दोनों कथाओं की रेखाएँ मिल भी जाती हैं, परन्तु कथा-संगठन फिर भी शिथिल है। होरी के गाँव के मालिक रायसाहब हैं और रायसाहब के मित्र इसी गाँव को अपनी जन-सेवा और सैर-सपाटे का लक्ष्य बनाते हैं। यही दोनों का संबंध है। स्पष्ट है कि इस नगण्य से संबंध से दोनों कथायें एक अभिन्न सूत्र में बँध नहीं सकतीं।

रायसाहब का नाम अमरपालसिंह है। वे रईस हैं, जमींदार हैं, कांग्रेसी हैं। वे एक साथ जनता और सरकार से बनाये रखने वाले आसामी हैं। उनके एक मित्र हैं "दैनिक बिजली" के संपादक ओंकारप्रसाद। रायसाहब जनता की आँखों में धूल झोंकते रहे, इस लिए उनकी समय-समय पर पूजा भी हो जाती है। रायसाहब के एक मित्र मि० खन्ना भी हैं जिन्होंने एक मिल खोल रखी है। बाद में होरी का लड़का गोबर इसी मिल में काम करता है। 'गोदान' मुख्यतः गाँव का उपन्यास है, परन्तु गोबर का चित्रण करते हुए प्रेमचंद मजदूर और मिल मालिकों के संघर्ष को भी स्पष्ट रूप से सामने लाते हैं। खन्ना की मिल में हड़ताल

हो जाती है। मिल-मालिक नये मज़दूरों की भरती करता है। नये और पुराने मज़दूरों में सिर-फुड़ौव्वल हो जाता है। गोबर भी ज़ख्मी होता है। परन्तु मिल भी नहीं बचती। उसमें आग लग जाती है और दस लाख रुपयों की मिल कुछ देर में राख का ढेर बन जाती है।

गोदान के इस संभ्रांत परिवार के दो और व्यक्ति मालती और मेहता हैं। मेहता दार्शनिक है, मालती पढ़ी-लिखी तितली। पहले वे इन कई संभ्रांत पात्रों को लेकर खिलवाड़ करती है, परन्तु अंत में वह मेहता के ही अधिक पास आने लगती है। मेहता का गांभीर्य और उनका आदर्शवाद उसे छू गया है। दोनों जन-सेवा का पाठ पढ़ने होरी के गाँव जाते हैं। परन्तु गाँव का सुधार वह क्या करते! सच बात तो यह है कि उनका ग्राम-प्रवास तो कुछ कोर्टशिप जैसा हो गया है। इस प्रवास में मेहता और मालती ने भावुकतापूर्ण जो उद्‌गार प्रगट किये हैं वे उनके अनर्गल—बहुत कुछ अव्यावहारिक—विचार मात्र हैं। इससे अधिक कुछ नहीं। गाँव की मूल समस्याओं को वे छू ही नहीं सकते। इतनी क्षमता उनमें नहीं है। जान पड़ता है मालती और मेहता को लेकर प्रेमचंद प्रेम और विवाह की समस्याएँ सुलझाने चले हैं। परन्तु वे स्वयं उलझ कर रह गये हैं।

परन्तु रईसों के जीवन का बड़ा सुन्दर और मार्मिक चित्र भी 'गोदान' में मिलता है। उनका परस्पर ईर्ष्या-द्वेष, उनकी ऐयाशी, शादी-विवाह के अवसर पर फ़िज़ूलखर्ची और इस फ़िज़ूलखर्ची के लिए किसानों का गला दबाना, उनका पारिवारिक असंतुष्ट, कलहपूर्ण जीवन—सच तो यह है कि बहुत थोड़े पृष्ठों में रईसी जीवन के सारे खोखलेपन को प्रेमचंद ने उभार दिया है। ज़मीदारों ने गाँव को चूस लिया है, तो उनमें स्वयं भी बहुत कुछ

नहीं रहा है। थोथी दिखावा मुक़दमेबाज़ी, कौंसिल की मेम्बरी के लिए दौड़ धूप और उपाधि-प्राप्ति के लिए अधिकारियों का चरण-चुंबन—यही उनका जीवन है। होरी सुखी नहीं है तो राजा अमरपालसिंह भी सुखी नहीं हैं। गाँव की दुर्दशा के समकक्ष शहरी जीवन के खोखलेपन को रखकर प्रेमचंद ने आधुनिक भारत की महान शून्यता की ओर इंगित किया है। क्या नगर में, क्या गाँव में, जीवन का स्रोत जैसे सूख गया है। प्रेमचंद यह नहीं बताते कि इनमें रस का संचार कैसे हो, परन्तु यह बताना कलाकार के लिए आवश्यक भी नहीं है। समस्या का निदान करना राजनीतिज्ञ, समाज सुधारक और विचारक का काम है, उपन्यासकार का काम तो जीवन के गले सड़े अंगों को ऐक्स-रे की किरणें डालकर उभार लाना है। सेवासदन, प्रेमाश्रम, निर्मला प्रभृति उपन्यासों में प्रेमचंद ने समस्याओं के निदान भी दिये हैं, परन्तु वह समाधान निर्बल हैं और उनसे युग की माँग पूरी नहीं होती। अपनी अंतिम रचनाओं में प्रेमचंद अधिक सतर्क हैं। वस्तुवादी कथाकार की तरह वह समस्या को सामने रखकर हट जाते हैं और निष्कर्ष निकालने के लिये पाठक को स्वच्छंद छोड़ देते हैं।

'गोदान' और उसके पूर्ववर्ती उपन्यासों में कला और दृष्टिकोण का महान अंतर है और उसे समझे बिना प्रेमचंद की प्रगतिशीलता को समझना सरल नहीं है। पहले हम दृष्टिकोण की बात लेंगे। अपने पहले उपन्यासों में प्रेमचंद जीवन के प्रति आदर्शवादी दृष्टिकोण रखते हैं और वह सत्य, अस्तेय, अन्याय-प्रतिकार (एक शब्द में, गाँधीवाद) को गाँव और शहर के सब झगड़ों का हल बताते हैं। 'गोदान' और 'कफ़न' संग्रह में प्रकाशित कहानियों में हम प्रेमचंद के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन देखते

हैं। लगभग १६३१ से ही वह वस्तुवाद की ओर तीव्र गति से बढ़ रहे हैं। 'ग़बन' (१६३१) इसका प्रमाण है। उसमें उन्होंने परंपरा-विरुद्ध एक अत्यंत दुर्बल-चरित्र व्यक्ति को नायक का स्थान दिया है। 'कर्मभूमि' (१६३२) और गोदान (१६३६) में उन्होंने वस्तुवाद की ओर एक और क़दम आगे बढ़ाया है। वास्तव में रमानाथ, अमरकांत और होरी एक ही श्रेणी के चरित्र हैं। सूरदास जैसा कोई भी आदर्शवादी, धीरोदात्त चरित्र इन परवर्ती रचनाओं में नहीं मिलेगा। उपन्यास के अंत में प्रेमचंद कोई भी समझौता उपस्थित नहीं करते। वह नग्न परिस्थितियों का चित्रण करते हैं और होरी की सारी मजबूरियों को उसी तरह, अपनी ओर से काटे-छाँटे बिना पाठक के सामने उपस्थित कर देते हैं। यही मजबूरियाँ उसे सोचने के लिए विवश करेंगी।

एक बात और विचारणीय है। अब तक प्रेमचंद गाँधीवाद पर ध्रुव श्रद्धा रखते थे। प्रेमाश्रम, कायाकल्प और रंगभूमि में गाँधीवादी जीवन, दर्शन और गाँधीवादी राजनैतिक और सामाजिक संघर्षों को उन्होंने अपना पथप्रदर्शक माना है। इस उपन्यास में उन्होंने इस लीक से हट जाना ही उचित समझा। वह गाँधीवाद और गाँधीवादियों की खिल्ली उड़ाने से भी नहीं चूकते। राय अमरपालसिंह एक ओर जमींदार हैं, हाकिमों के जूते चाटते हैं, दूसरी ओर कांग्रेसवादी। इनके संबंध में प्रेमचंद लिखते हैं—

पिछले सत्याग्रह संग्राम में रायसाहब ने बड़ा यश कमाया था। कौंसिल की मेम्बरी छोड़कर जेल चले गये थे। तब से उनके इलाके के असामियों को उनसे बड़ी श्रद्धा हो गई थी। ये नहीं कि उनके इलाके में असामियों के साथ कोई ख़ास रियायत की जाती हो, या डाँड़ और बेगार की कड़ाई कुछ कम हो, मगर यह सारी बदनामी मुख्तारों के सिर जाती थी। रायसाहब की कीर्ति पर,

कोई कलंग नहीं लग सकता था। इस प्रकार के अनेक व्यंगचित्र 'गोदान' में मिलेंगे। पिछले उपन्यासों में प्रेमचंद की गाँधीवाद पर असीम श्रद्धा थी, परन्तु इस उपन्यास में रायसाहब खन्ना और ओंकारनाथ सब कांग्रेसी हैं, परन्तु सब छल, घूसखोरी और दिखावे को पसंद करते हैं। ऊपर से चाहे वे कितने ही प्रगतिशील रहें, उनकी मास मज्जा में प्रतिक्रियावाद जड़ तक घुसा हुआ है। जिस स्वर्ण स्वप्न को लेकर प्रेमचंद ने 'प्रेमाश्रम' में भारतीय ग्रामीण समाज और कांग्रेसवादी (-गाँधीवादी) सिद्धान्तों को कथा का सुन्दर रूप दिया था, वही अब टूटता-जैसा लगता है। जिस ग्राम जीवन की प्रशंसा १६३०-३१ में भी उन्होंने उपेन्द्रनाथ अश्क को लिखे अपने पत्र में की थी, 'गोदान' में उस स्वर्णग्राम के चित्र नहीं है। गाँवों और ग्रामीणों की सारी दुर्बलताएँ, सारे कष्ट, सारी तपस्या इस एक उपन्यास में अमर हो गई हैं। जान पड़ता है, धर्म, ईश्वर, समाज और व्यक्ति सब की दुर्बलताओं और छलों के प्रति प्रेमचंद असहिष्णु हो गये हैं। होरी प्रेमचंद के उस आदर्शवाद का प्रतीक है जो उन्हें प्रेमाश्रम (१६२२) से कर्मभूमि (१६३२) तक विश्वस्त बनाये रख सका। यह आदर्शवाद अब यथार्थ स्थिति की चट्टान से टकरा कर चकनाचूर हो गया है। होरी सब को मानकर चलना चाहता है—धर्म को, ईश्वर को, समाज को, व्यक्ति के पारिवारिक कर्तव्यों को, परन्तु वह चल नहीं पाता। सभी के नाम पर वह शोषित है। पंडा-पुरोहित, समाज के नेता और कर्णधार, उसके भाई-भावज सब उसे छलते हैं और छलों का यह खेल खेलते-खेलते एक दिन उसकी जान ही चली जाती है। उसकी तो केवल एक छोटी सी व्यक्तिगत लालसा है—उसके दरवाज़े पर एक गऊ बँध जाये। 'गऊ से ही तो द्वार की सोभा है, सवेरे-सवेरे गऊ के दर्शन हो जायें तो क्या कहना!

न जाने कब यह साध पूरी होगी।' परन्तु इस एक साधारण-सी चाह के पूरे होने में भी क्या-क्या बाधायें हैं। जैसे सारा गाँव, धर्म और समाज के सारे पुरोहित, सारे अपने-पराये होरी की इस किसान-सुलभ आकांक्षा के बीच में आ खड़े हुए हैं। जिस सरलता से, जिस कौशल से प्रेमचंद ने होरी के दुखांत जीवन की यह कथा लिखी है, वह गोर्की में भी नहीं है। और होरी कोई सीधा-सादा सरल किसान नहीं है। किसान की सारी व्यावहारिकता, सारी चतुरता उसमें है—फिर भी वह जीवन की सारी लड़ाई हार जाता है। ऐसा क्यों? इसीलिये तो कि वह गाँव की धरती की तरह ही बदला नहीं है। एक ओर गाँव का अपना छल-कपट है जो उसे खाये जा रहा है। दूसरी ओर शहर की पुकार है। गाँव के बेटे शहर पहुँच रहे हैं और वहाँ मिल-मजदूरों की संगठित वाणी सीख कर गाँव से घृणा करने लगे हैं। गाँव और शहर के इस संघर्ष में होरी पिस जाता है। स्वयं उसका पुत्र गोबर उसे लथाड़ता है और अंत में यह कह कर उसे छोड़कर चला जाता है—'जब तक बच्चा था दूध पिला दिया, फिर लावारिस की तरह छोड़ दिया। जो सबने खाया वही मैंने खाया। मेरी जिन्दगी तुम्हारा देना मरने के लिए नहीं है। मेरे भा तो बाल-बच्चे हैं।' इस अंतिम धक्के को भी होरी मुस्कुरा कर सह लेता है। अपना सब कुछ बेच कर, दोनों लड़कियों का विवाह कर, समाज की मर्यादा का बोझ ढोकर अंत में वह किसान से बोझा ढोने वाला मजदूर बन जाता है और एक दिन उसकी ऐहिक लीला समाप्त हो जाती है। ५०-५५ वर्ष गाँव की धरती पर चलकर, इतना लड़-झगड़ कर, इतना कुछ सह कर भी उसकी एक छोटी सी अबोध-सी लालसा पूरी नहीं होती। परन्तु इसके लिए दोषी कौन है?

'गोदान' पढ़ने के बाद यह प्रश्न अबूझा नहीं रह जाता। जिन-जिन रूढ़िवादों ने, जिन-जिन प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने भारतीय जीवन के प्रतीक भारतीय गाँव की सहज, नैसर्गिक शक्तियों को कुंठित कर रखा है, उन सब को प्रेमचंद पहचानते हैं और होरी को पग-पग पर उनसे लड़वाते हैं। इस संघर्ष में होरी टूट जाता है। और कोई दूसरी राह ही उसके लिए खुली नहीं थी। परन्तु इस हार में भी इतनी शक्ति है कि वह देखने-सुनने वाले को कटिबद्ध कर दे और नये युग का शंखनाद सुनाई पड़ने लगे। कला की दृष्टि से तो 'गोदान' और भी महत्वपूर्ण है। प्रेमचंद की कुछ कहानियों को छोड़कर न वैसा संयम अन्यत्र मिलेगा, न वैसी वर्गगत चेतना, न वैसा गांभीर्य। इसमें संदेह नहीं कि इस उपन्यास के द्वारा प्रेमचंद कला, चिंतन और उपन्यास लेखन के नये क्षेत्र में उतर रहे थे। 'मंगल सूत्र' में उनकी यह कला विकसित रूप में हमें प्राप्त होगी। उसके जो अंश प्रकाशित हुए हैं वे इस बात के प्रमाण हैं। परन्तु काल ने इस अंतिम रचना को पूरा नहीं होने दिया और आज भी प्रेमचंद की नई दिशा और उनकी नई समाजवादी कला की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क चल रहे हैं।

१२

# प्रेमचन्द का जीवन-दर्शन

प्रत्येक महान उपन्यासकार और कहानी लेखक जीवन को एक विशेष दृष्टिकोण से देखता है। मनुष्य का जीवन सुखी किस तरह हो, दुखी क्यों है, दुःख का परिहार क्या है? क्या इस जीवन के पीछे कोई इससे परे की सत्ता है, या नहीं है? अदृष्ट क्या है? मनुष्य को बनाने में अदृष्ट का कितना हाथ है? जीवन के दुःख-सुख को हम किस आश्वासन के साथ ग्रहण करें?—ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो महान् कथाकार की रचनाओं से स्वतः फूट पड़ते हैं और प्रायः उन्हीं रचनाओं में हमें इनका उत्तर भी मिल जाता है। हमें देखना है कि प्रेमचंद को इन सनातन प्रश्नों पर क्या कहना है। एक शब्द में, मनुष्य के लिए उनका संदेश क्या है?

प्रेमचन्द अनुभव करते हैं कि मनुष्य का जीवन जिन तंतुओं का बना है, वे इतने कोमल हैं कि उन्हें बड़ी सावधानी से रखना होता है जिसमें वे टूट न जायँ और उनसे करुण चीत्कार न उठे। वे कहते हैं

"वह (जीवन) क्या पुष्प से कोमल नहीं—जो वायु के झोंके सहता है और मुरझाता नहीं? क्या वह लताओं से कोमल नहीं, जो कठोर वृक्षों के झोंके सहती, और लिपटी रहती है!

वह क्या पानी के बबूलों से कोमल नहीं, जो जल की तरंगों पर तैरते हैं, और टूटते नहीं? संसार में और कौनसी वस्तु इतनी कोमल, इतनी अस्थिर, इतनी सारहीन है, जिसे एक व्यंग, एक कठोर शब्द, एक अन्योक्ति भी दारुण, असह्य, घातक है! और इस भित्ति पर कितने विशाल, कितने भव्य, कितने बृहदाकार भवनों का निर्माण किया जाता है (रंगभूमि पृ० ८५५)।

जीवन की इस मार्मिकता और कोमलता में ट्रेजडी (दुखांत) के तत्त्व छिपे हुए हैं—यह प्रेमचन्द की मौलिक कल्पना है। मनुष्य कोमल है, इसी लिए वह दुर्बल है। यूरोप के दुखांत नाटककार कहते हैं मनुष्य के दुःखों के पीछे हैं उनकी चारित्रिक दुर्बलताएँ परन्तु वे यह नहीं जानते कि इन चारित्रिक दुर्बलताओं से भी बड़ी कोई वस्तुएँ हैं जो मनुष्य के दुःख का कारण हैं। जिनमें चारित्रिक दुर्बलताएँ नहीं हैं, वे क्या सुखी नहीं हैं? पश्चिम का कलाकार कहता है कि अपने वातावरण की कठोरता, विषमता और परिस्थितियों की विडम्बना के कारण। प्रेमचन्द परिस्थिति को इतना महत्व नहीं देते। वे अदृष्ट के उपासक हैं। उन्होंने लिखा है—"× × इस अनुभव ने मुझे कट्टर भाग्यवादी बना दिया है। अब मेरा दृढ़ विश्वास है कि भगवान की जो इच्छा होती है वही होता है और मनुष्य का उद्योग भी उसकी इच्छा के बिना सफल नहीं होता। ('जीवनसार')

वे दुःख का मूल कारण ढूँढ़ने के लिए मनुष्य के व्यक्तित्व में और गहरे उतरते हैं और जीवन की नैसर्गिक कोमलता को ही मानवता का अभिशाप मानते हैं।

परन्तु यही कोमलता तो जीवन को सुन्दर बनाती है—प्रेम, आत्मत्याग, बलिदान, यही तो जगत को सुन्दर बनाए हुए हैं। प्रेमचन्द जानते हैं कि जीवन की भव्यता की नींव ही इस कोम-

लता पर रखी गई है। इसी लिए हार तो है ही। उनका सब से वीर, कर्मठ चरित्र सूरदास कहता है—

"बस, बस, अब मुझे क्यों मारते हो, तुम जीते, मैं हारा। यह बाज़ी तुम्हारे हाथ रही। मुझसे खेलते न बना, तुम मँजे हुए खिलाड़ी हो, दम नहीं उखड़ता, खिलाड़ियों को मिला कर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगता हैं और खिलाड़ियों को मिला कर नहीं खेलते। आपस में झगड़ते हैं, गाली गलौज मारपीट करते हैं, कोई किसी की नहीं मानता। तुम खेलने में निपुण हो हम अनाड़ी हैं (वही, पृ० ८६०)।

तब जब जीवन की मौलिक कोमलता ही उसके लिए घातक है तो क्या किया जाय, दुःख का परिहार कैसे हो? प्रेमचन्द सुझाते हैं कि निष्काम कर्म, फल-त्यागपूर्वक कर्त्तव्य पालन, हार जीत के प्रति सन्यास-भाव यही दुःख के जीतने की कुंजी है। यह जीवन तो खेल है, इसे खेलते हुए चलो। सूरदास के ही शब्दों में—"हमारी बड़ी भूल यही है कि हम खेल को खेल की तरह नहीं खेलते। खेल में धाँधली करके कोई जीत ही जाय, तो क्या हाथ आयेगा। खेलना तो इस तरह चाहिये कि निगाह जीत पर रहे, पर हार से घबड़ाये नहीं, ईमान को न छोड़े। जीत कर इतना न इतराए कि अब कभी हार होगी ही नहीं। यह हार-जीत तो जिंदगानी के साथ है (वही, पृ० ६२२)।

यह निष्काम कर्म, अच्छी नीयत से किया गया कार्य, सेवा भाव से किया गया कर्म, प्रेमचन्द का संदेश है। उनकी रचना में बार-बार इसका उपदेश मिलता है—

"भैया, कोई काम सबाब समझ कर नहीं करना चाहिये। दिल को ऐसा बना लो कि काम में उसे वही मजा आवे, जो गाने

या खेलने में आता है। कोई काम इसलिये करना कि उससे नजात मिलेगी रोज़गार है ( कर्मभूमि, पृ० ४८४ )।

"जो काम अच्छी नीयत से किया जाता है, वह ईश्वरार्थ होता है। नतीजा कुछ भी हो। यहाँ का अगर कुछ फल न मिले तो भी यहाँ का पुण्य तो मिलता ही है।" (वही, पृ० ५५१)

प्रेमचन्द को अदृष्ट में बड़ा विश्वास था। 'कायाकल्प' में राजा विशालसिंह ने अदृष्ट को परास्त करने की चेष्टा की, ख़ुद ही उसके हाथ के खिलौने बन गये। मनुष्य बनाता है, ईश्वर विगाड़ देता है। जब बिगड़ जाता है तो कर्मवादी कहता है—मेरे कर्मों का फल है। ईश्वर को दोष न दीजिये ( चक्रधर-कायाकल्प, पृ० ६१६ )।

परन्तु मनुष्य के विश्वास की भित्ति हिल जाती है। मुंशी चक्रधर की सी उसकी गति हो जाती है। मुंशी वज्रधर ठीक कहते हैं—मैं भी अब तक ईश्वर को दयालु समझता था। लेकिन अब वह श्रद्धा नहीं रही। गुणानुवाद करते सारी उम्र बीत गई। उसका यह फल! उस पर कहते हो, ईश्वर को दोष न दीजिये! अपने कल्याण के लिए ही तो ईश्वर का भजन किया जाता है या किसी की जीभ खुजलाती है? क़सम ले लो जो आज से कभी एक भी पद गाऊँ ( कायाकल्प, पृ० ६१७ )।

जब असफलता हाथ लगे, जब मनुष्य विधि से हार जाये तो वह जीवन को किस दृष्टिकोण से देखे? जीवन के आदर्श क्या हों? किसी के लिए जीवन का अर्थ है प्रभुता और विलास, अधिकार ऐश्वर्य और शासन ( 'कायाकल्प' में विशालसिंह ); किसी के लिए जीवन का सुख है कीर्ति, दान, यश और सेवा ( वही, मनोरमा ), किसी को सेवा ( चक्रधर, विनय, अमर ),

किसी को कर्तव्य (लौंगी), किसी को विलास (देवप्रिया)। प्रेमचन्द ने विलास को धिक्कारा है और प्रेम की महानता के गीत गाये हैं। उन्होंने सेवा को कीर्ति, दान, यश, अधिकार-लिप्सा सबसे ऊँचा रखा है। मनुष्य काल पर विजय कैसे पाये? चक्रधर कहते हैं—"काल पर हम विजय पाते हैं अपनी सुकीर्ति से, यश से, व्रत से। परोपकार ही अमरत्व प्रदान करता है। काल पर विजय पाने का अर्थ यह नहीं है कि हम कृत्रिम साधनों से भोगविलास में प्रवृत्त हों, वृद्ध होकर जवान बनने का स्वप्न देखें और अपनी आत्मा को धोका दें। लोकमत पर विजय पाने का अर्थ है अपने सद्विचारों और सत्कर्मों से जनता से आदर पाना और सम्मान प्राप्त करना। आत्मा पर विजय पाने का आशय निर्लज्जता या विषय-वासना नहीं बल्कि इच्छाओं का दमन करना और कुवृत्तियों को रोकना है।" (कायाकल्प, पृ० १५२)

मनुष्य के संतोष के लिए इतना बहुत है! परन्तु इस संसार में यह भी किसे नसीब है—यश, जनता का आदर और सम्मान, दरिद्र जन-सेवक के लिए इनकी कहाँ गुञ्जाइश? "जनता धनियों का जितना मान-सम्मान करती है उतना सेवकों का नहीं। सेवा-भाव के लिए धन भी आवश्यक है। दरिद्र सेवक, चाहे वह कितने ही सच्चे भाव से क्यों न काम करे, चाहे वह जनता के लिए प्राण ही क्यों न दे दे, उतना यश नहीं पा सकता, जितना एक धनी आदमी अल्प सेवा करके कमा सकता है।" (कायाकल्प, पृ० ३७६)। तब जन-सेवक को सेवा के संतोष को लेकर ही सब्र करना पड़ता है। चक्रधर ऐसा ही निस्पृह जनसेवक है।

जीवन की मौलिक भित्ति है सत्य, न्याय और प्रेम। इन्हीं को लेकर आगे बढ़ना होगा। प्रेमचन्द का कहना है कि भावी धर्म इन्हीं तत्त्वों के आधार पर बनेगा। यही तीन भावी धर्म के त्रिदेव

होंगे। इन्हें ही उन्होंने "नीति" कहा है। "मैं तो नीति को ही धर्म समझता हूँ। और सभी सम्प्रदायों की नीति एक सी है। अगर अंतर है तो बहुत थोड़ा। हिन्दू-मुसलमान, ईसाई-बौद्ध, सभी सत्कर्म और सद्विचार की शिक्षा देते हैं।" (वही, पृ० २४०)। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तीनों को अपना जीवन इन्हीं तीनों भित्तियों पर निर्माण करना होगा। इन तीनों मूल तथ्यों को निबाहते हुए जीवन के दुःखों-सुखों का हँस कर सामना करना, उससे भागना नहीं, यही प्रेमचन्द का जीवन-दर्शन है। इसे ही वह बारबार सूरदास के मुँह से कहलाते हैं—

तू रंगभूमि में आया दिखलाने अपनी माया, क्यों धरम नीति को तोड़ै ? भई, क्यों रन से मुँह मोड़ै ? ( रंगभूमि )

'कायाकल्प', 'रंगभूमि' और 'गोदान' तीनों महान् उपन्यासों में जीवन के प्रति उपन्यासकार का एक-सा दृष्टिकोण देखते हैं। उसने मनुष्य की पराजय दिखाई है। चक्रधर से अधिक दुखी प्राणी कौन होगा, सूरदास जिस भाई के लड़के के पीछे मर गया, उसने उसे क्रिया-कर्म और गया से भी धत्ता बता दिया, गोदान का होरी लड़के-बहू और भाइयों पर मिट मरा ! परन्तु इससे क्या ? यही तो मनुष्य थे, नहीं, ये देवता थे। सर्वोत्कृष्ट मनुष्य ही तो देवता है। इन्होंने दुःख सहा, कष्ट सहा, प्रण निवाहे, परोपकार में देह घुलाई, किसी से छल-कपट न किया और अंत में किसी से प्रशंसा पाकर, किसी से लांछा पाकर चलते बना। खेले, परन्तु धर्म का खेल; धर्म की लड़ाई लड़े। यही आदमी थे। रंगभूमि में प्रेमचन्द जीवन की लड़ाई को सच्चे ढङ्ग से हृदय में दुर्व्यवहार न लाते हुए, कर्तव्य के मार्ग पर अडिग लड़ने की शिक्षा देते हैं। सूरदास कहता है—

"खिलाड़ी जीत कर हारने वाले की हँसी नहीं उड़ाता, उससे

गले मिलता है और हाथ जोड़ कर कहता है—'भैया, अगर हमने खेल में तुमसे कोई अनुचित बात कही हो, या कोई अनुचित व्यौहार किया हो, तो हमें माफ़ करना।' इस तरह दोनों खिलाड़ी हँस कर अलग होते हैं, खेल ख़तम होते ही दोनों मित्र बन जाते हैं, उनमें कोई कपट नहीं रहता।" ( पृ० ३८० )

और जब हम जीवन को प्रभु की क्रीड़ा समझ लेते हैं तो फिर पराजय का दुःख भी क्यों होगा और हम क्यों अकर्मण्य बन बैठेंगे। सूरदास के ही शब्दों में—

"सच्चे खिलाड़ी कभी रोते नहीं, बाज़ी पर बाज़ी हारते हैं, चोट पर चोट खाते हैं, धक्के पर धक्के सहते हैं, पर मैदान में डटे रहते हैं, उनकी त्यौरियों पर बल नहीं पड़ते। हिम्मत उनका साथ नहीं छोड़ती, दिल पर मालिन्य के छींटे भी नहीं आते, न किसी से जलते हैं, न चिढ़ते हैं। खेल में रोना कैसा! खेल हँसने के लिये है, दिल बहलाने के लिये है, रोने के लिये नहीं।" ( वही, पृ० २१२ )

जीवन को भगवान के समर्पण कर आसक्त भाव से कर्तव्य पूरा करते चलने में ही कर्मण्यता की अजस्र-धार फूटती है।

"सबसे ऊँचा मार्ग है खिलाड़ी की तरह, सूरदास की तरह, खेल खेलते जाना। उससे कुछ नीचा मार्ग है सेवाभाव से काम किये जाना, जिस तरह चक्रधर और विनय करते रहे। परन्तु यह समझ लेना चाहिये कि सेवक का धर्म यश और अपयश का विचार करना नहीं है, उसका धर्म-सन्मार्ग पर चलना है × ×" उसके सेवाभाव में स्वार्थ का समावेश किंचित भी नहीं होना चाहिये। एक इतना ही ऊँचा तीसरा मार्ग है होरी की तरह कर्तव्य को लहू देकर भी निभाये जाना, बदले की परवा न करना।

परन्तु ये सब मार्ग आस्तिकता पर टिके हैं। जीते तो नास्तिक भी हैं। नास्तिक कहता है—"इस जीवन से परे ×× अनंत शून्य और अनंत आकाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। लोक असार है, परलोक भी असार है, जब तक जिंदगी है, हँस-खेल कर काट दो। मरने के पीछे क्या होगा, कौन जानता है। संसार सदा इसी भाँति रहा है, और इसी भाँति रहेगा। उसकी सुव्यवस्था न किसी से हुई है, और न होगी। बड़े-बड़े ज्ञानी, बड़े-बड़े तत्ववेत्ता, ऋषि, मुनि मर गए, और कोई रहस्य न पा सका। हम जीवमात्र हैं, और हमारा काम केवल जीना है।" (रंगभूमि, पृ० ६३० )

यह भी एक मार्ग है, और प्रेमचन्द इसे भी बुरा नहीं समझते।

जीवन-संग्राम में मनुष्य सफल होते हैं, असफल होते हैं, यह बहुत कुछ जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण और परिस्थितियों (नियति) पर निर्भर है। जो असफल हैं, जैसे सूरदास या चक्रधर, वे भी महान हो सकते हैं। जो सफल हैं, जिन्होंने व्यवहार में जीवन को जीता है, वे भाग्यवान हैं। रानी सारंधा में प्रेमचन्द इन सफल मनुष्यों के जीवन-दर्शन की व्याख्या करते हैं—

"दुनिया एक मैदाने कारेजार है, इसी मैदान में उस सिपाई को फतेह नसीब होती है जो मौक़ा और महल से फ़ायदा उठाना चाहता है, वह मौक़ा देख कर जितना आगे बढ़ता है, खतरे के वक्त उतना ही पीछे हट जाता है। ऐसे आदमी ही हुकूमतों की बुनियाद डाते हैं और तारीख़ उनके नाम पर सदियों फूल नौछावर करती है ( उर्दू भाषा-शैली देखिये )। यह उन लोगों का जीवन-दर्शन है, जो ऐहिक ऐश्वर्य और सिद्धि प्राप्त करते हैं।"

१४

# भाषा और लेखन-शैली

भाषा की दृष्टि से प्रेमचन्द महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी भाषा उनकी इतनी अपनी है कि उसका नाम ही 'प्रेमचन्दी भाषा' पड़ गया है। उनकी भाषा चुस्त, मुहावरों से सजी और परुष है। उसमें उर्दू फ़ारसी के चलते हुए शब्दों का प्रयोग होता है। पात्रों के अनुसार वे भाषा बदल देते हैं। उनके मुसलमान पात्र कहीं ठेठ उर्दू, कहीं फ़ारसी-मिश्रित हिंदी बोलते हैं। उनके पंडित संस्कृति गर्भित भाषा का प्रयोग करते हैं। गाँव का वातावरण उपस्थित करने के लिये वह प्रांतीय और प्रादेशिक शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। उनकी भाषा में लोच है, प्रवाह है और प्रसाद गुण है। प्रेमचन्द की देन यही भाषा है। इसे हिन्दू भी समझ सकता है, मुसलमान भी। आज जिस हिन्दुस्तानी की बातचीत हो रही है वह यही प्रेमचन्द की भाषा है। नाटक, उपन्यास और कहानी के लिये यह बहुत उपयुक्त रही है।

परन्तु स्वयम् प्रेमचन्द की समस्त रचनाओं में भाषा का रूप एकसा नहीं है। वह उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त होती गई है। उनके "वरदान" और "गोदान" के कुछ अवतरणों से यह बात सिद्ध हो जायगी—"रात्रि भली भाँति आर्द्र हो चली थी"

(वरदान पृ० २१५)

"विरजन उसके गले लिपट गई और अश्रु-प्रवाह का आतंक जो अब तक दबी हुई अग्नि की नाईं सुलग रहा था, अकस्मात् ऐसे भड़क उठा मानो किसी ने आग में तेल डाल दिया है।"

(वही पृ० ७५)

"कुछ काल और बीता, यौवन काल का उदय हुआ। विरजन ने उसके चित्त पर प्रतापचन्द का चित्र खींचना आरम्भ किया। उन दिनों इस चर्चा के अतिरिक्त उसे कोई बात अच्छी ही न लगती थी। निदान उसके हृदय में प्रतापचन्द की चेरी बनने की इच्छा उत्पन्न हुई। पड़े-पड़े हृदय से बातें किया करती। रात्रि में जागरण करते मन का मोदक खाती।"

'वरदान' के इन अवतरणों की भाषा में प्रवाह की मात्रा अधिक नहीं है और उससे ठेठ मुहावरे संस्कृत शब्दों से सटा कर रखे हुये मिलते हैं। उर्दू के शब्दों का अधिक प्रयोग भी नहीं है। यह लेखक की प्रारम्भिक भाषा है—प्रयास स्पष्ट है। प्रेमचंद वर्षों से उर्दू में लिख रहे थे। अब हिंदी में आ रहे हैं तो सतर्क हैं। इसीसे उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में उस उत्कृष्ट "हिन्दुस्तानी" का रूप नहीं मिलता जिसके वे आविष्कर्त्ता हैं। इन ऊपर के उद्धरणों की भाषा को गोदान की पुष्ट भाषा से मिलाइये—

"होरी लाठी कन्धे पर रख कर घर से निकला तो धनिया द्वार पर खड़ी उसे देर तक देखती रही। उसके इन निराशा-भरे शब्दों ने धनिया के चोट खाये हुए हृदय में आतंकमय कम्पन सा डाल दिया था। वह जैसे अपने नारीत्व के सम्पूर्ण तप और व्रत से अपने पति को अभय दान दे रही थी। उसके अन्तःकरण से जैसे आशीर्वादों का व्यूह-सा निकल कर होरी को अपने अन्दर

छिपाये लेता था। विपन्नता के इस अथाह सागर में सोहाग ही वह तृण था, जिसे पकड़े हुये वह सागर को पार कर रही थी। इन असंयत शब्दों ने यथार्थ के निकट होने पर भी मानो झटका देकर उसके हाथ से वह तिनके का सहारा छीन लेना चाहा। बल्कि यथार्थ के निकट होने के कारण ही उनमें इतनी वेदना शक्ति आ गई थी। काना कहने से काने को जो दुःख होता है, वह क्या दो आँखों वाले आदमी को हो सकता है?" (पृ० ३)

इन पंक्तियों में हिंदी की उस जातीय भाषा का परिष्कृत और विकसित रूप मिलेगा जो १९०६-७ के आस-पास "सरस्वती" के द्वारा पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी को प्रदान किया था। कम पुष्ट भाषा का प्रयोग करके धनिया की हृदय-व्यथा को इस स्पष्टता से चित्रित करना क्या सम्भव होता? प्रेमचन्द के उपर्युक्त उद्धरण की शैली में हम उनके सबसे सुन्दर गद्यकाव्य का नमूना पाते हैं। शब्दों के परुष सङ्गठन और शैली की प्रसादमयता और प्रवाह के लिये यह अद्वितीय है।

परन्तु इतना कहने भर से ही हम प्रेमचन्द की भाषा-विषयक विशेषता को पूर्णतः ग्रहण नहीं कर सकते। प्रेमचन्द की भाषा और उनकी विभिन्न शैलियों के अध्ययन के लिये हमें उनके साहित्य को कई भागों में बाँटना पड़ेगा। शैलियों की दृष्टि में ये भाग इतने अलग-अलग पड़ते हैं कि इनका एक साथ अध्ययन हास्यास्पद होगा। यह विभाजन इस प्रकार होगा :—

१. वर्णन

२. मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं परिस्थिति-चित्रण

३. पात्रों की भाषा (कथोपकथन)

४. प्रकृति-वर्णन

५. मन का तत्त्व-प्रधान वर्णन जिसे Wishful Thinking

कहेंगे। चिन्तन-प्रधान पात्र जिस प्रकार विचार-धारा में बह जाते हैं उनके विचारों को उसी प्रकार धारावाहिक रूप से लिख कर उनकी मनः-चेतना को प्रगट करने वाले अंशों की एक अलग सत्ता है। आगे हम इन सब अंगों की भाषा पर विशदता से विचार करेंगे :—

## १. वर्णन

प्रेमचन्द के उपन्यासों में हमें इतने प्रकार के वर्णन मिलते हैं कि यदि नमूने के लिए एक-एक ढङ्ग का वर्णन उपस्थित करें तो एक छोटी पुस्तक ही बन जाये। सच तो यह है कि प्रेमचन्द की कथा कहने की कला में वर्णन को प्रमुख स्थान मिला है। उनकी सूक्ष्मता, विविध विचित्रता और विस्तार के द्वारा ही वे पाठक के आकर्षण को स्थिर रख सके हैं।

इन वर्णनों की भाषा में फ़ारसी-अरबी शब्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है—प्रवाह, भाषा की चित्रांकन शक्ति, अलंकार-निर्वाह आदि के उत्कृष्ट उदाहरण हमें यहीं मिलेंगे। वर्णन करते समय प्रेमचन्द अपने संयम को भूल जाते हैं और स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता का ध्यान रखे बिना दूर तक बहे चले जाते हैं। 'वरदान' में उनकी नायिका व्रजरानी कविता करने लगी है। प्रेमचन्द इस इतनी-सी बात को इस प्रकार लिखते हैं—

"जब से व्रजरानी का काव्यचन्द उदय हुआ, तभी से उसके यहाँ सदैव महिलाओं का जमघट लगा रहता था। नगर में स्त्रियों की कई सभाएँ थीं। उनके सम्बन्ध का सारा भार उसी को उठाना पड़ता था। × × राजा धर्मसिंह ने उसकी कविताओं का सर्वाङ्ग सुन्दर संग्रह प्रकाशित किया था। इस संग्रह ने उसके काव्य चम-

त्कार का डंका बजा दिया था। भारतवर्ष की कौन कहे, यूरोप और अमरीका के प्रतिष्ठित कवियों ने भी उसे उसकी काव्य-मनोहरता पर धन्यवाद दिया था। भारतवर्ष में एकाध ही कोई ऐसा रसिक मनुष्य रहा होगा, जिसका पुस्तकालय उसकी पुस्तक से सुशोभित न होगा।"

यह वर्णन स्पष्टतम अत्युक्ति प्रधान है—वास्तव में न अभी हमारे यहाँ ऐसी कवियित्रियों ने जन्म लिया है, कि जिनका डंका विदेशों में भी बजे, न हमारे जन-समाज में ही इतनी शिक्षा एवं गुण-ग्राहकता है। इस तरह के बेलग्राम वर्णन प्रेमचन्द के उपन्यासों में भरे पड़े हैं। भाषा-शैली की दृष्टि से वे कितने ही सुन्दर हो, परन्तु वे उपन्यास को यथार्थ से अलग कर "रोमांस" की पंक्ति में डाल देते हैं। 'कर्मभूमि' में अमर महंत आशाराम गिरि के मन्दिर में प्रवेश करता है—

'× × × बरामदे के पीछे, कमरों में खाद्य-सामग्री भरी हुई थी ऐसा मालूम होता था, अनाज, शाक-भाजी, मेवे, फल, मिठाई की मंडियाँ हैं। एक पूरा कमरा तो केवल परवलों से भरा हुआ था। इस मौसम में परवल कितने महँगे होते हैं, पर यहाँ वह भूसे की तरह भरा हुआ था। × × इस मौसम में यहाँ बीसों झाबे अंगूर के भरे थे × × एक लम्बी कतार दर्जियों की थी × × एक कतार सुनारों की थी × × एक पूरा कमरा इत्र और तैल और अगरबत्तियों से भरा हुआ था × × कोई पच्चीस-तीस हाथी आँगन में बँधे थे, कोई इतना बड़ा कि पूरा पहाड़, कोई इतना छोटा, जैसे भैंस × × पाँच सौ घोड़े से कम न थे, हरेक जाति के × × चार-पाँच सौ गायें-भैंसें थी—क्यों कि ठाकुर जी के स्नान के लिए प्रतिदिन तीन बार पाँच-पाँच मन दूध की आवश्यकता पड़ती थी, भंडार के लिए अलग (कर्मभूमि पृ० ४०४,

४०५, ४०६)। ऐसे वर्णनों में सहसा विश्वास नहीं होता और जी उबा डालनेवाले विस्तार से उपन्यास के चरित्र-चित्रण और घटनाचक्र की गति शिथिल हो जाती है। पाठक की दृष्टि एक अवान्तर विषय में खो जाती है। इस प्रकार के अनेक वर्णन प्रेमचन्द के उपन्यासों में हैं और वे सामयिक समाचार-पत्रों के विवरणों के विस्तार और असंयम को भी मात कर देते हैं।

इन वर्णनों के विपरीत कुछ वर्णन हैं जो "चित्रात्मक वर्णन शैली" के अन्तर्गत आते हैं। ऐश्वर्य और वैभव का वातावरण उपस्थित करने में इसी वर्णन-शैली से काम लिया जाता है। रानी देवप्रिया के झूले-घर का वर्णन इसी प्रकार का चित्रप्रधान वर्णन है—

"वह एक विशाल भवन था। बहुत ऊँचा और इतना लम्बा-चौड़ा कि झूले पर बैठ कर खूब पैंग ली जा सकती थी। रेशम की डोरियों में पड़ा हुआ एक पटरा छत से लटक रहा था, पर चित्रकारों ने ऐसी कारीगरी की थी कि मालूम होता था, किसी वृक्ष की डाल में पड़ा हुआ है। पौदों, झाड़ियों और लताओं ने उसे यमुनातट का कुञ्ज-सा बना दिया था! कई हिरन और मोर इधर-उधर विचरा करते थे। × × × पानी का रिमझिम बरसना, ऊपर से हलकी-हलकी फुहारों का पड़ना, हौज़ में जल-पक्षियों का क्रीड़ा करना, किसी उपवन की शोभा दरसाता था" (कायाकल्प पृ० ८५)। परन्तु अन्य स्थानों पर प्रेमचन्द के वर्णन उनके ग्रंथ को बड़ा बल देते हैं। उपद्रवों के वर्णन करने में तो वे अद्वितीय हैं—रंगभूमि और कर्मभूमि में उन्होंने उत्तेजित भीड़ों के अत्यन्त विशद, सुन्दर और यथार्थ वर्णन किये हैं जो आगे के इतिहास के सामने हमारे जन आन्दोलनों के सामूहिक रूप को भली भाँति

प्रगट कर सकेंगे। परन्तु जहाँ उनका कार्यक्षेत्र इतना बड़ा नहीं है वहाँ भी जनता की क्षण-क्षण बदलती मनोभावना का अच्छा चित्रण कर सके हैं × × "इतने में लोगों ने शामियाने पर पत्थर फेंकना शुरू किया। लाला बैजनाथ उठ कर छोलदारी में भागे। कुछ लोग उपद्रवकारियों को गालियाँ देने लगे। एक हलचल-सी मच गई, कोई इधर भागता था, कोई उधर; कोई गाली बकता था, कोई मारपीट पर उतारू था। अकस्मात् एक दीर्घकाय पुरुष, सिर मुँड़ाए, भस्म रमाये, हाथ में एक त्रिशूल लिये आकर महफ़िल में खड़ा हो गया। उसके लालनेत्र, दीपक के समान जल रहे थे और मुखमंडल से प्रतिभा की ज्योति स्फुटित हो रही थी। महफ़िल में सन्नाटा छा गया। सब लोग आँखें फाड़-फाड़ कर महात्मा की ओर ताकने लगे। यह कौन साधु है ? कहाँ से आया है ?" ( सेवासदन २०० )। इसमें पहले भीड़ की उत्तेजना और उथलपुथल का वर्णन है और फिर एक साधु का चित्र खड़ा किया गया है। थोड़े से चुने शब्दों में प्रेमचन्द भीड़ की उत्तेजना और साधु के अलौकिक व्यक्तित्व का प्रभाव स्पष्ट कर सके हैं। इस जोड़ का वर्णन समसामयिक उपन्यासकला में मिलना कठिन है। प्रसादपूर्ण प्रवाहमय वर्णन को आगे बढ़ाते हुए प्रेमचंद "दीपक के समान" जलते हुए नेत्र और "प्रतिभा की ज्योति" से प्रदीप्त मुखमंडल को सामने लाकर काव्यमय परिणिति में वर्णन को समाप्त करते हैं। "गोदान" के वर्णनों में प्रेमचन्द के सब वर्णनों की विशेषताएँ पूर्ण विकसित दशा में मिलती हैं :—

"होरी ने रुपए लिए और अँगोछे के कोर में बाँधे प्रसन्न मुख आकर दारोगा की ओर चला।

सहसा धनिया झपट कर आगे आई और अँगोछी एक झटके

के साथ उसके हाथ-से छीन ली। गाँठ पक्की न थी। झटका पाते ही खुल गई और सारे रुपये ज़मीन पर बिखर गये। नागिन की तरह फुङ्कार कर बोली × × होरी ख़ून का घूँट पीकर रह गया। सारा समूह जैसे थर्रा उठा।" ( पृ० १७३ )

इस अवतरण में अनेक काव्य प्रधान वाक्यांश हैं अवतरण में होरी के मनोभाव का भी चित्र है। "प्रसन्नमुख" होरी "ख़ून का घूँट" पीकर रह गया। इन चुने हुए शब्दों से होरी की मनोस्थिति स्पष्ट हो जाती है। यही नहीं, होरी की चाल भी स्पष्ट है। जब वह रुपये लेकर जा रहा है तो वह धीमे-धीमे चल रहा है। इसके सामने धनिया की तेज़ी 'सहसा' शब्द से प्रगट की गई है। बाद की परिस्थिति ( रुपये बिखर जाने ) का सकारण स्पष्ट चित्रण उपस्थित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऊपर के अवतरण में एक गतिप्रधान चित्र उपस्थित किया गया है और साथ ही मानसिक संघर्षों और प्रतिक्रियाओं की भी सांकेतिक अभिव्यंजना है। यदि हम प्रेमचंद के वर्णनों का ग्रंथों के कालक्रम के हिसाब से अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि वे किस प्रकार बराबर छोटे और संश्लिष्ट होते गये हैं। यह विकास का क्रम सेवासदन से गोदान तक बराबर चला आता है। इस प्रसङ्ग को हम गोदान का एक दूसरा उत्कृष्ट चित्र देकर समाप्त करते हैं। चित्र का सम्बन्ध होरी के कुटुम्ब से है—

"होरी अपने गाँव के समीप पहुँचा, तो देखा, अभी तक गोबर खेत में ऊख गोड़ रहा है और दोनों लड़कियाँ भी उसके साथ काम कर रही हैं। लू चल रही थी, बगूले उठ रहे थे, भूतल धधक रहा था जैसे प्रकृति ने वायु में आग घोल दी हो। यह सब अभी तक खेत में क्यों हैं? क्या काम के पीछे सब

जान देने पर तुले हैं ? वह खेत की ओर चला और दूर ही से चिल्ला कर बोला—आता क्यों नहीं गोबर, क्या काम ही करता रहेगा ? दोपहर ढल गया, कुछ सूझता है कि नहीं ?

उसे देखते ही तीनों ने कुदालें उठा लीं और उसके साथ हो लिये। गोबर साँवला, लम्बा, एकहरा युवक था जिसे इस काम से रुचि न मालूम होती थी। प्रसन्नता की जगह मुख पर असन्तोष और विद्रोह था। वह इस लिए काम में लगा हुआ था कि वह दिखाना चाहता था, उसे खाने-पीने की कोई फ़िक्र नहीं है। बड़ी लड़की सोना लज्जाशील कुमारी थी, साँवली, सुडौल, प्रसन्न और चपल। गाढ़े कीं लाल साड़ी, जिसे वह घुटनों से मोड़ कर कमर में बाँधे हुए थी उसके हलके शरीर पर कुछ लदी हुई-सी थी और उसे प्रौढ़ता की गरिमा दे रही थी। छोटी रूपा पाँच-छः साल की छोकरी थी, मैली, सिर पर बालों का एक घोसला-सा बना हुआ। एक लँगोटी कमर में बाँधे, बहुत ही ढीठ और रोनी।

रूपा ने होरी की टाँगों से लिपट कर कहा—काका ! देखो, मैंने एक ढेला भी नहीं छोड़ा। बहन कहती है, जा पेड़-तले बैठ। ढेले न तोड़े जायँगे काका तो मिट्टी कैसे बराबर होगी ?

होरी ने उसे गोद में उठा कर प्यार करते हुए कहा—तूने बहुत अच्छा किया बेटी, चलो घर चलें।" (पृ० १६)

इस वर्णन में प्रकृति की कठोर वीथिका देकर प्रेमचंद ने एक कृषक गृह के ममता और विद्रोह को एक साथ प्रगट किया है। 'गोदान' में इस प्रकार के कितने ही उत्तम संश्लिष्ट चित्र मिलेंगे। इनके लिये हिन्दी साहित्य सदैव प्रेमचंद का आभारी रहेगा।

जैसा ऊपर के कुछ अवतरणों से प्रगट होगा इन अवतरणों

की भाषा-शैली तत्सम-प्रधान शब्दावली की ओर अधिक ढलती है। काव्य-कला का पुट भी मिलता है, परन्तु सविस्तार पर्यवेक्षण और मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि के भी उदाहरण मिलते हैं। इन सब वर्णनों में, चाहे वे दो-चार पंक्तियों में हों, चाहे कई पृष्ठों में, प्रेमचंद चित्र की सारी रेखाओं को स्पष्ट कर देते हैं—अधिकतः विस्तार के साथ कभी-कभी संकेत रूप में—और पाठकों की बुद्धि पर कुछ भी नहीं छोड़ते। इस प्रकार वे पाठक की तरफ़ से अधिक चेष्टा नहीं मानते, इसीसे पाठक उन्हें सदैव अपने आगे-आगे पाता है। प्रेमचंद की वर्णन-शैली उन्हें कहीं भी अस्पष्ट और भ्रामक नहीं होने देती।

२. मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं परिस्थिति चित्रण में प्रेमचंद मनोविज्ञान के पंडित हैं। उनका मनोविज्ञान भाषा के द्वारा बड़े सुन्दर रूप से विकसित हुआ है। उनकी पहली रचनाओं में ही हम उन्हें कई पृष्ठों तक पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उपस्थित करते हुये पाते हैं—

"माधवी उठी, परन्तु उसका मन बैठा जाता था। जैसे मेघों की काली-काली घटायें उठती हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि सब जल-थल एक हो जायगा परन्तु पछवा वायु चलने के कारण सारी घटा काई की भाँति फट जाती है उसी प्रकार इस समय माधवी की गति हो रही थी।" (वरदान पृ० २१४)

ऊपर के चित्रण में माधवी का मनःसंघर्ष किस चतुरता के साथ 'उदाहरण अलंकार' में सजा कर प्रगट किया गया है। यदि इसी बात को सीधी अनलंकृत भाषा में कहना पड़ता तो निस्सन्देह इससे कहीं अधिक वाक्य लिखना पड़ता। प्रारम्भिक रचनाओं में ही इस प्रकार की प्रौढ़ मनोविश्लेषक भाषा-शैली के पीछे प्रेमचंद का उर्दू का पिछला लिखा सारा साहित्य छिपा है। सुदामा

की पुत्र-विषयक चिंता प्रेमचंद एक प्रकृतिचित्र ( natural imagery ) से प्रगट करते हैं—"जो अमोल पौध जलवायु के प्रखर झोंकों से बचाया जाता था, जिस पर सूर्य की प्रचंड किरणें न पड़ने पाती थीं, जो स्नेह-सुधा से अभिसिञ्चित रहता था, क्या वह आज इस जलती हुई धूप और इस आग की लपट में मुरझायगा ?"

परन्तु बाद की रचनाओं में प्रेमचंद उत्तरोत्तर इस समास पद्धति को छोड़ते गये हैं—यद्यपि कहानियों में आवश्यकतानुसार इसी का प्रयोग बराबर मिलता है। उपन्यासों में उन्होंने पात्रों की मन की उथल-पुथल को विश्लेषणात्मक रूप से लिखा है। यहाँ भाषा चिंता से भारी हो जाती है और उसमें नैतिक तत्व हृदयोद्गार, प्रलाप, चिंता—इतनी बहुत प्रवृत्तियाँ उलझी-उलझी चलती हैं कि पाठक इस विस्तृत मनः-विश्लेषण से ऊब कर आगे बढ़ना चाहता है। यहाँ हम उनकी इस शैली के दो अवतरण देंगे। दोनों अवतरण ऐसे पात्रों से लिये गये हैं जो आत्महत्या करने जा रहे थे। दोनों "प्रेमाश्रम" से लिये गये हैं।—

"ज्ञानशंकर (वह) सोचते चले जाते थे, क्या इसी उद्देश्य के लिये मैंने अपना जीवन समर्पण किया ? क्या अपनी नाव इसीलिए बोझी थी कि वह जलमग्न हो जाय ?

हा वैभव-लालसा ! तेरी बलिवेदी पर मैंने क्या नहीं चढ़ाया ! अपना धर्म, अपनी आत्मा तक भेंट कर दी। हा ! तेरे भाड़ में मैंने क्या नहीं झोंका ? अपना मन, वचन, कर्म, सब कुछ आहुति कर दी। क्या इसीलिए कि कालिमा के सिवा और कुछ हाथ न लगे ?

मायाशंकर का कसूर नहीं, प्रेमशंकर का दोष नहीं, यह सब मेरे प्रारब्ध की कूटलीला है। मैं समझता था, मैं स्वयम् अपना

विधाता हूँ। विद्वानों ने भी ऐसा ही कहा है, पर आज मालूम हुआ कि मैं इसके हाथों का खिलौना था। उसके इशारों पर नाचने वाली कठपुतली था। जैसे बिल्ली चूहे को खिलाती है, जैसे मछुआ मछली को खिलाता है, उसी भाँति इसने मुझे अब तक खिलाया। कभी पंजे में धीरे से पकड़ लेता था, कभी छोड़ देता था, जरा देर के लिये उसके पंजे से छूट कर मैं सोचता था, उस पर विजय पाई, पर आज उस खेल का अंत हो गया, बिल्ली ने गर्दन दबा दी, कछुए ने बंशी खींच ली। मनुष्य कितना दीन, कितना परवश है ! भावी कितनी प्रबल ! कितनी कठोर !

जो तिमंजिला भवन मैंने एक युग में अविश्रान्त उद्योग से खड़ा किया, वह क्षण मात्र में इस भाँति भूमिस्थ हो गया, मानो उसका अस्तित्व न था, उसका चिह्न तक नहीं दिखाई देता। क्या वह विशाल अट्टालिका भावी की केवल माया-रचना थी ?

हा ! जीवन कितना निरर्थक सिद्ध हुआ। विश्व लिप्सा तूने कहीं का न रखा। मैं आँख बंद करके तेरे पीछे-पीछे चला और तूने मुझे इस घातक भँवर में डाल दिया।

मैं अब किसी को मुँह दिखाने योग्य नहीं रहा। सम्पत्ति, मान, अधिकार किसी का शौक नहीं। इनके बिना भी आदमी सुखी रह सकता है—बल्कि सच पूछो तो सुख इनसे मुक्त रहने में ही है। शोक यह है कि मैं अल्पांश में भी इस यश का भागी नहीं बन सकता। लोग इसे मेरे विषय-प्रेम की यंत्रणा समझेंगे—कहेंगे, बेटे ने बाप का कैसा मानमर्दन किया, कैसी फटकार बताई। यह व्यंग, यह अपमान कौन सहेगा ? हा ! मुझे पहले से इस अंत का ज्ञान हो जाता, तो आज मैं पूज्य समझा जाता, त्यागी पुत्र का धर्मज्ञ पिता कहलाने का गौरव प्राप्त करता। प्रारब्ध ने कैसा गुप्ताघात किया ! अब क्यों जिंदा रहूँ ? इसलिये

कि तू मेरी दुर्गति और उपहास पर खुश हो, मेरी प्राण-पीड़ा पर तालियाँ बजाये। नहीं, अभी इतना लज्जाहीन, इतना बेहया नहीं हूँ। हा विद्या! मैंने तेरे साथ कितना अत्याचार किया! तू सती थी, मैंने तुझे पैरों-तले रौंदा। मेरी बुद्धि कितनी भ्रष्ट हो गई थी। देवी, इस पतित आत्मा पर दया कर!

इन्हीं दुखमय भावों में डूबे हुये ज्ञानशंकर नदी के किनारे जा पहुँचे। घाटी पर इधर-उधर सांड बैठे हुए थे। नदी का मलिन मध्यम स्वर नीरवता को और भी नीरव बना रहा था।

ज्ञानशंकर ने नदी को कातर नेत्रों से देखा। उनका शरीर काँप उठा। वह रोने लगे। उनका दुःख नदी से कहीं अपार था।

जीवन की घटनायें सिनेमा-चित्रों के सदृश उनके सामने मूर्तिमान हो गईं। उनकी कुटिलतायें आकाश के तारागण से भी उज्ज्वल थीं। उनके मन ने प्रश्न किया, क्या मरने के सिवा और कोई उपाय नहीं है?

नैराश्य ने कहा, नहीं, कोई नहीं। वह घाट के एक पील पाये पर जाकर खड़े हो गये। दोनों हाथ तौले, जैसे चिड़िया पर तौलती हैं, पर पैर न उठ सके।

मन ने कहा, तुम भी प्रेमाश्रम में क्यों नहीं चले जाते? ग्लानि ने जवाब दिया, कौन मुंह लेकर जाऊँ, मरना तो नहीं चाहता; पर जीऊँ कैसे? हाय मैं जबरन मारा जा रहा हूँ। यह सोच कर ज्ञानशंकर जोर से रो उठे। आँसू की झड़ी लग गई। शोक और भी अथाह हो गया। चित्त की समस्त वृत्तियाँ इस अथाह शोक में निमग्न हो गईं। धरती और आकाश, जल और थल सब इसी शोक सागर में समा गये।

वह एक अचेत, शून्य दशा में उठे और गंगा में कूद पड़े। शीतल जल ने हृदय-दाह को शांत कर दिया।" (पृ० ६३८-६४१)

मनोहर की आत्मग्लानि को प्रेमचन्द इतने काव्यात्मक ढङ्ग से चित्रित नहीं करते—कारण कि मनोहर उस श्रेणी का ही आदमी नहीं है जिस श्रेणी के ज्ञानशंकर हैं। उसकी शिक्षा-दीक्षा इतने ऊँचे तर्क-वितर्कों तक उसे नहीं उठा सकती। अतः वह विचार और भाषा के क्षेत्र में नीचे उतर कर, परन्तु फिर भी इसी विस्तार के साथ, मनोहर की हृदयव्यथा का चित्रण कर रहे हैं—

"आज वह शब्द उसके कानों में गूँज रहे थे, जो अब तक केवल हृदय में ही सुनाई देते थे--तुम्हारे कारण सारा गाँव मिटियामेट हो गया, तुमने सारे गाँव को चौपट कर दिया। हा यह कलङ्क मेरे माथे पर सदा के लिये लग गया, अब यह दाग़ कभी न छूटेगा। जो अभी बालक हैं, वे मुझे गालियाँ दे रहे होंगे। उनके बच्चे मुझे गाँव का द्रोही समझेंगे। जब मरदों के ये विचार हैं, जो सब बातें जानते हैं, जिन्हें भली भाँति मालूम है, कि मैंने गाँव को बचाने के लिये अपनी ओर से कोई बात उठा नहीं रखी और जो यह अंधेर हो रहा है वह समय का फेर है, तो भला स्त्रियाँ क्या कहती होंगी। बेचारी विलासी गाँव में किसी को मुंह न दिखा सकती होगी। उसका घर से निकलना मुश्किल हो गया होगा, और क्यों न कहें ? उसके सिर पर बीत रहो है तो कहेगा कौन ? अभी तो अगहनी घर में खाने को ही हो जायगा, लेकिन खेत तो बोये न गये होंगे, चैत में जब एक दाना भी न उपजेगा, बाल-बच्चे दाने-दाने को रोयेंगे, तब उनकी क्या दशा होगी ? मालूम होता है, इस कंबल में खटमल हो गये हैं, नोचे डालते हैं। और यह रोना साल दो साल का

नहीं है, कहीं सब काले पानी भेज दिये गये, तो जन्म भर का रोना है। कादिर मियाँ का लड़का तो घर सँभाल लेगा; लेकिन और सभी मिट्टी में मिल जायेंगे और यह सब मेरी करनी का फल है।

सोचते-सोचते मनोहर को झपकी आ गई। उसने स्वप्न देखा कि एक चौड़े मैदान में हजारों आदमी जमा हैं, फाँसी खड़ी है और मुझे फाँसी पर चढ़ाया जा रहा है। हजारों आँखें मेरी ओर घृणा की दृष्टि से ताक रही हैं। चारों तरफ से यही ध्वनि आ रही है, इसी ने सारे गाँव को चौपट किया। फिर उसे ऐसी भावना हुई कि मैं मर गया हूँ और कितने ही भूत-पिशाच मुझे चारों ओर से घेरे हुये हैं और कह रहे हैं इसी ने हमें दाने-दाने को तरसा कर मार डाला, यही पापी है, इसे पकड़ कर आग में झोंक दो। मनोहर की हालत खराब हो रही थी। उसे चारों तरफ अपने कर्मों का परिणाम ही दिखलाई पड़ रहा था। पिशाचों की भयावनी शकलें उसे और भी भयभीत करने लगीं। मनोहर के मुख से सहसा एक चीख़ निकल आयी, आँखे खुल गईं, कमरा में खूब अँधेरा था, लेकिन जागने पर भी वही पैशाचिक, भयङ्कर मूर्त्तियाँ उसके चारों तरफ मंडराती हुई जान पड़ती थीं, मनोहर की छाती बड़े वेग से धड़क रही थी, जी चाहता था, बाहर निकल भागूँ, किन्तु द्वार बन्द थे।

अकस्मात् मनोहर के मन में यह विचार अंकुरित हुआ—क्या मैं यही सब कौतुक देखने और सुनने के लिए जीऊँ? सारा गाँव, सारा देश मुझ से घृणा कर रहा है। बलराज भी मन में मुझे गालियाँ दे रहा होगा। उसने मुझे कितना समझाया लेकिन मैंने एक न मानी। लोग कहते होंगे सारे गाँव को बँधवा कर अब यह मुस्टंडा बना हुआ है। इसे तनिक भी लज्जा नहीं, सिर पटक

कर मर क्यों नहीं जाता ? बलराज पर भी चारों ओर से बौछारें पड़ती होंगी, सुन-सुनकर कलेजा फटता होगा। अरे!—भगवान! यह कैसा उजाला है! नहीं, उजाला नहीं है। किसी पिशाच की लाल-लाल आँखें हैं, मेरी हा तरफ लपकी आ रही हैं। या नारायण! क्या करूँ ? मनोहर की पिंडलियाँ काँपने लगीं, यह लाल आँखें प्रति क्षण उसके समीप आती जाती थीं। वह न तो उधर देख ही सकता था और न उधर से आँखें ही हटा सकता था, मानों किसी आसुरिक शक्ति ने उसके नेत्रों को बाँध दिया है। एक क्षण के बाद मनोहर को एक ही जगह कई आँखें दिखाई देने लगीं, नहीं, प्रज्वलित अग्निमय, रक्तयुक्त नेत्रों का एक समूह है, धड़ नहीं, सिर नहीं, कोई अंग नहीं केवल विदग्ध आँखें ही हैं, जो मेरी तरफ़ टूटे हुए तारों की भाँति सर्राटा भरती चली आती हैं। एक पल और हुआ वे नेत्र-समूह शरीर-युक्त होने लगे और ग़ौसखाँ के आहत स्वरूप में बदल गया। यकायक बाहर धड़ाके की आवाज़ हुई। मनोहर बदहवास होकर पीछे की दीवार की ओर भागा, लेकिन एक ही पग में दीवार से टकरा कर गिर पड़ा, सिर में चोट आयी, फिर उसे जान पड़ा कि कोई द्वार का ताला खोल रहा है, तब किसी ने पुकारा मनोहर! मनोहर! मनोहर ने आवाज़ पहचानी, जेल का दारोग़ा था। उसकी जान में जान आयी, कड़क कर बोला—हाँ साहब, जागता हूँ। पैशाचिक जगत् से निकल कर वह फिर चैतन्य संसार में आया। उसे अब नेत्र समूह का रहस्य खुला। दारोग़ा की लालटेन की ज्योति थी, जो किवाड़ की दरारों से कोठरी में आ रही थी। इसी साधारण-सी बात ने उसे इतना सशंक कर दिया था। दारोग़ा आज गश्त करने निकला था।

दारोग़ा के चले जाने के बाद मनोहर कुछ सावधान हो गया।

शंकोत्पादक कल्पनाएँ शान्त हुईं; लेकिन अपने तिरस्कार और अपमान की चिन्ताओं ने फिर आ घेरा। सोचने लगा, एक वह हैं जो उजड़े हुए गाँवों को आबाद करते हैं और जिनका यश संसार गाता है। एक मैं हूँ जिसने गाँव को उजाड़ दिया। अब कोई भोर के समय मेरा नाम न लेगा। ऐसा जान पड़ता है कि सभी डामिल जायँगे, एक भी न बचेगा। अभी न जाने कितने दिन यह मामला चलेगा। महीने भर लगे, दो महीने लग जायँ, इतने दिनों तक मैं सब की आँखों में काँटे की तरह खटकता रहूँगा, सब मुझे कोसेंगे, गालियाँ दिया करेंगे। आज दुखरन ने कह ही सुनाया, कल कोई और ताने देगा, कादिर खाँ को भी यह क़ैद अखरती ही होगी।" (पृ० ३६३-३६६)

"श्रद्धा इस समय अपने द्वार पर इस भाँति खड़ी थी जैसे कोई पथिक रास्ता भूल गया हो। उसका हृदय आनन्द से नहीं, एक अव्यक्त भय से काँप रहा था। यह शुभ दिन देखने के लिए उसने कितनी तपस्या की थी! यह आकांक्षा उसके अन्धकारमय जीवन का दीपक, उसकी डूबती हुई नौका की लंगर थी। महीने के तीस दिन, और दिन के चौबीस घन्टे यही मनोहर स्वप्न देखने में कटते थे। विडम्बना यह थी कि वे आकांक्षाएँ और कामनायें पूरी होने के लिए नहीं केवल तड़पाने के लिए थीं। वह दाह और संताप शांति का इच्छुक न था। श्रद्धा के लिए प्रेमशङ्कर केवल एक कल्पना थे। इसी कल्पना पर वह प्राणार्पण करती थी। उसकी भक्ति केवल उनकी स्मृति पर थी, जो अत्यन्त मनोरम भावमय और अनुरागपूर्ण थी। उनकी उपस्थिति ने इस सुखद कल्पना और मधुर स्मृति का अन्त कर दिया। वह जो उनकी याद पर जान देती थी अब उनकी सत्ता से भयभीत थी, क्योंकि वह कल्पना, धर्म और सतीत्व की पोषक थी और यह

सत्ता उनकी घातक। श्रद्धा को सामाजिक अवस्था और समयोचित आवश्यकताओं का ज्ञान था। परम्परागत बन्धनों को तोड़ने के लिए जिस विचार स्वातंत्र्य और दिव्य ज्ञान की जरूरत है उससे वह रहित थी। वह एक साधारण हिन्दू-अबला थी। वह अपने प्राणों से, अपने प्राण-प्रिय स्वामी से हाथ धो सकती थी; किन्तु अपने धर्म की अवज्ञा करना अथवा लोक निन्दा का सहन करना उसके लिए असम्भव था। जब से उसने सुना था कि प्रेम-शङ्कर घर आ रहे हैं, उसकी दशा उस अपराधी की-सी हो रही थी जिसके सिर पर नंगी तलवार लटक रही है।" (प्रेमाश्रम पृ० १७०-१७२)

"विद्या की आँखों में आँसू की बड़ी-बड़ी बूँदे दिखाई दीं; जैसा मटर की फली में दाने होते हैं। बोली, बहिन तब तो मेरी नाव डूब गई। जो कुछ होना था हो चुका। अब सारी स्थिति समझ में आ गई। इस धूर्त ने इसीलिए यह जाल फैलाया था, इसीलिए इसने यह भेष रचा है, इसी नीयत से इसने गायत्री की गुलामी की थी। मैं पहले ही डरती थी, कितना समझाया, कितना मना किया, पर इसने मेरी एक न सुनी। अब मालूम हुआ इसके मन में क्या ठनी थी। आज सात साल से यह इसी धुन में पड़ा हुआ है। अभी तक मैं यही समझती थी कि इसे गायत्री के रङ्ग-रूप, बनाव-चुनाव, बात-चीत ने मोहित कर लिया है। वह निन्द्य कर्म होने पर भी घृणा के योग्य नहीं है। जो प्राणी प्रेम कर सकता है वह धर्म, दया, विनय आदि सद्गुणों से शून्य नहीं हो सकता। प्रेम की ज्योति उसके हृदय को प्रकाशित करती रहती है। लेकिन जो प्राणी प्रेम का स्वाँग भर कर उससे अपना कुटिल अर्थ सिद्ध करता है, जो टट्टी की आड़ से शिकार खेलता है, उससे ज्यादा नीच नराधम कोई हो ही नहीं सकता। वह उस डाकू से

भी गया बीता है जो धन के लिए लोगों के प्राण हर लेता है। वह प्रेम जैसे पवित्र वस्तु का अपमान करता है। उसका पाप अक्षम्य है। मैं बेचारी गायत्री को अब भी निर्दोष समझती हूँ। बहिन, अब इस कुल का सर्वनाश होने में विलम्ब नहीं है। जहाँ इतना अधर्म, इतना पाप, इतना छल-कपट हो वहाँ कल्याण कैसे हो सकता है? अब मुझे पिता जी की चेतावनी याद आ रही है।" (वही, पृ० ५१४)

## (४) प्रकृति-वर्णन

प्रेमचन्द के प्रकृति-वर्णन भाषा के जगमगाते हुए हीरे हैं। ये हीरे उनके उपन्यासों और उनकी कहानियों में बिखरे हुए मिलेंगे। उपयोगितावादी प्रेमचन्द बिना मतलब प्रकृति-चित्र उपस्थित नहीं करते, जैसी परिस्थिति हम 'हृदयेश' के उपन्यासों में पाते हैं। जहाँ पिछले खेवे के उपन्यासकार प्रकृति को 'कादम्बरी' के भीतर से देखते थे या बँगला उपन्यासों के ढङ्ग पर उस पर नायक-नायिका के सुख-दुख का आरोपण कर उसे विकृत बना देते थे, वहाँ प्रकृति के प्रेमी प्रेमचन्द ने प्रकृति को लेकर न शब्द बर्बाद किये हैं, न व्यर्थ के बतंगड़ खड़े किये हैं। ऊहापोह प्राकृतिक वर्णन से उन्हें चिढ़ थी। वे 'प्रसाद' की भाँति प्रकृति को रोमांस के भीतर से भी नहीं देखते थे। परन्तु उनका प्रेम उनके प्रत्येक वर्णन से फूटा पड़ता है। गाँव की प्रकृति का ऐसा सुन्दर वर्णन तो उसके सिवा कहीं मिलेगा भी नहीं। अन्य उपन्यासकारों की दृष्टि शहर की चहारदीवारी से बाहर ही नहीं जाती।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, प्रेमचन्द प्रकृति का निरर्थक वर्णन नहीं करते—वे उसे वीथिका के रूप में देखते हैं।

"अमावस की रात थी। आँखों का होना-न-होना बराबर था। तारागण भी बादलों में मुँह छिपाये हुए थे, अन्धकार ने जल और बालू, पृथ्वी और आकाश को समान कर दिया था। केवल जल की मधुर ध्वनि गङ्गा का पता देती थी। ऐसा सन्नाटा छाया हुआ था कि जलनाद भी उसमें निमग्न हो जाता था। ऐसा जान पड़ता है कि पृथ्वी अभी शून्य के गर्भ में पड़ी हुई है।" (प्रेमाश्रम पृ० ५८५)

यह वर्णन उतना वीथिका के रूप में नहीं है जितना "स्वांतः सुखाय" या कहिये "प्रकृति प्रेम के स्वतः अनुभव के लिये"? यद्यपि प्रेमचन्द के अधिकांश प्रकृतिचित्र भूमिका स्वरूप ही हमारे सामने आये हैं; जैसे "जेठ का सूर्य आमों के झुरमुट से निकल कर आकाश पर छाई हुई लालिमा को अपने रजत प्रताप से तेज प्रदान करता हुआ ऊपर चढ़ रहा था और हवा में गरमी आने लगी थी। दोनों ओर खेतों में काम करने वाले किसान उसे देख कर राम-राम करते और सम्मान भाव से चिलम पीने का निमंत्रण देते थे, पर होरी को इतना अवकाश कहाँ था।" (गोदान पृ० ४)

"अरावली की हरी-भरी, झूमती हुई पहाड़ियों के दामन में जसवंतनगर यों सो रहा है जैसे बालक माता की गोद में। माता के स्तन से दूध की धारें प्रेमोद्गार से विकल, उबलती, मीठे स्वरों में गाती निकलती हैं और बालक के नन्हे से मुख में न समा कर नीचे बह जाती हैं। प्रभात की स्वर्ण-किरणों में नहा कर माता का स्नेह सुन्दर मुख निखर गया है और बालक भी, अंचल से मुँह निकाल कर, माता के स्नेह-पल्लवित मुख की ओर देखता है, हुकुमता है और

मुसकुराता है, पर माता बारबार उसे अंचल से ढक लेती है कि कहीं उसे नज़र न लग जाय।" ( रंगभूमि पृ० ४५७ )

पहले वर्णन में किसी प्रकार का अलंकार नहीं, वस्तुस्थिति जैसी है, सामने है। दूसरे अवतरण में 'रूपक' का आश्रय लेकर एक अत्यंत सुंदर काव्य-चित्र उपस्थित किया जा रहा है। हमारे सारे पिछले काव्य में प्रकृति को अलंकारों और रूढ़िविधानों के भीतर से ही देखा गया है। परन्तु जसवंतनगर का यह चित्र मा-शिशु के सहज-संबंध की तरह ही चिरपुरातन-चिरनूतन है। इस जोड़ की चीज़ हमारे यहाँ थी ही नहीं।

परन्तु जहाँ प्रेमचन्द ने मनुष्य और प्रकृति का संबंध जोड़ा है, वहाँ भी वह अद्वितीय है—"श्यामल क्षितिज के गर्भ से निकलने वाली बाल ज्योति की भाँति अमरकान्त को अपने अन्तःकरण की सारी क्षुद्रता, सारी कलुषता के भीतर एक प्रकाश-सा निकलता हुआ जान पड़ा जिसने उसके जीवन को रजत शोभा प्रदान कर दी। दीपकों के प्रकाश में, संगीत के स्वरों में, गगन की तारिकाओं में, उसी शिशु की छवि थी, उसी का माधुर्य था, उसी का नाम था" ( कर्मभूमि, पृ० ६४ )

"गगन मंडल में चमकते हुए तारागण व्यंग दृष्टि की भाँति हृदय में चुभते थे। सामने, वृक्षों के कुंज थे। विनय की स्मृति-मूर्ति, श्याम, करुण ज्वर की भाँति कंपित, धुएँ की भाँति असंबद्ध, यों निकलती हुई मालूम हुई, जैसे किसी संतप्त हृदय से हाय की ध्वनि निकलती है।" ( रंगभूमि ४५६ )

इस प्रकार के अनेक संश्लिष्ट प्रकृति-चित्र प्रेमचन्द के साहित्य में मिलेंगे। भाषा-शैली का सर्वोच्च विकार भी यहीं मिलेगा, जहाँ वह मनोविज्ञान का भव्य रस और प्रकृति-सौंदर्य के साथ-साथ व्यंजित करती चलती है।

## ३. पात्रों की भाषा ( कथोपकथन )

पात्रों की भाषा ही प्रत्येक उपन्यास की जान होती है, अतः यहीं हम उपन्यासकार की सफलता-असफलता की जाँच करते हैं। कथोपकथन ही वह शक्ति है जिसमें पात्र अपने को प्रकाशित करते हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से तो कथोपकथन का अध्ययन आवश्यक है ही, भाषा की दृष्टि से भी वह कम महत्वपूर्ण नहीं है। एक ही साँस में यदि पात्रों की भाषा से गुण बताना हो तो हम कह सकते हैं कि "वह स्वाभाविक हो, पात्रानुकूल हो, चरित्र-चित्रण-द्योतक हो, श्लील हो, मनोरंजक हो।"

परन्तु यह तो हुई चलती बात। हमें विशद रूप से प्रेमचन्द की पात्रों की भाषा पर विचार करना है। अतः हमें परिस्थिति को सुलझा कर समझाना होगा। प्रेमचन्द से पहले के उपन्यासों में दो प्रकार की भाषाओं का प्रयोग हो चुका था। एक तत्सम (संस्कृत) प्रधान हिन्दी थी, दूसरी ऐसी सरल हिन्दी जो उर्दू-फ़ारसी के शब्दों को भी स्वीकार कर लेती थी—

"इस पावन अभिराम ग्राम का नाम श्यामापुर है। यहाँ आप के आराम, पथिकों और पवित्र यात्रियों को विश्राम और आराम देते हैं। × × × पुराने टूटे-फूटे शिवाले इस ग्राम की प्राचीनता के साक्षी हैं। ग्राम के सीमांत के हाड़ जहाँ झुण्ड के झुण्ड कौए और बगुले बसेरा लेते हैं गवँई की शोभा बढ़ाते हैं। पौ फटते और गौधूली के समय गैयों के खुरों से उड़ी धूल ऐसी गलियों में छा जाती है मानो कुहिरा गिरता हो।"

(श्यामास्वप्न)

इस अवतरण में बहुत ही सुन्दर 'अनुप्रास' का प्रयोग है और 'गौधूली और सीमांत' जैसे कठिन शब्द लिखे गये हैं। दूसरी

प्रकार की भाषा-शैली देवकीनन्दन खत्री की चन्द्रकांता की भाषा थी जिसे काफ़ी लोकप्रियता भी मिली। प्रेमचन्द के सामने भाषा-विषयक दो प्रकार की समस्याएँ थीं। एक तो यह कि वे उन नये पात्रों की भाषा को क्या रूप दें जिनका संबंध खड़ी बोली हिन्दी से स्थापित न हो पाया था, दूसरे कि वे अपनी भाषा की उर्दूवाली रवानी ( प्रवाह ) को बनाये रखते हुए संस्कृत शब्दों का कहाँ तक प्रयोग करें। प्रेमचन्द की रचनाओं में इन समस्याओं का उत्तर भली भाँति मिल जाता है। पहली समस्या पात्रों की भाषा के संबंध में है—इस पर हम विस्तारपूर्वक कुछ कहेंगे। अन्य स्थलों की भाषा 'प्रेमचन्दी भाषा' है और इस पर हम अलग विचार कर चुके हैं। यदि उनकी भाषा का एक सामान्य उदाहरण उपस्थित करना हो तो हम यह देंगे—

१. "दुनिया सोती थी पर दुनिया की जीभ जागती थी। सबेरे ही देखिये, बालक-वृद्ध सब के मुँह से यही बात सुनायी देती। जिसे देखिये, वह पंडित जी के इस व्यौहार पर टीका-टिप्पणी करता था। निन्दा की बौछार हो रही थी, मानों संसार से अब पाप का पाप कट गया। पानी को दूध के नाम से बेचने वाला ग्वाला, कल्पित रोजनामचे भरने वाला अधिकारी वर्ग, रेल में बिना टिकट सफ़र करने वाले बाबू लोग, जाली दस्तावेज़ बनाने वाले सेठ और साहूकार सब के सब देवताओं की भाँति गरदनें हिला रहे थे।"

२. "प्रातःकाल महाशय प्रवीण ने बीस दफ़ा उबाली चाय का प्याला तैयार किया और बिना शक्कर और दूध के पी गये। यही उनका नाश्ता था। महीनों से मीठी दूधिया चाय न मिली थी। दूध और शक्कर उनके जीवन के आवश्यक पदार्थों में न थे। घर में गये ज़रूर कि पत्नी को जगा कर पैसे माँगें, पर

उसे फटे-मैले लिहाफ़ में निमग्न देख कर जगाने की इच्छा न हुई। सोचा, शायद मारे सर्दी के बेचारी को रात भर नींद न आयी होगी, इस वक़्त जाकर आँख लगी है। कच्ची नींद जगा देना उचित न था, चुपके से चले आये।"

परन्तु पात्रों की भाषा सदैव इस प्रकार की भाषा नहीं हो सकती थी। पात्रों की भाषा के संबन्ध में समस्या थी विभिन्न वर्गों की भाषा की—गाँव वालों की भाषा क्या हो; शहरातियों की भाषा कैसी हो, मुसलमान हिन्दी बोलें या उर्दू; शहर में भी शिक्षा और पेशे के हिसाब से अनेक श्रेणियाँ हैं जिनकी बोलचाल में अंतर है। जिस सामान्य भाषा के २ अवतरण ऊपर दिये हैं, उनसे इनका अंतर किस प्रकार प्रगट किया जाय कि यथार्थता हाथ से न जाय ?

यदि संवाद का उद्देश्य पात्र-निरूपण है तो वह पात्र के अनुकूल होना चाहिये, जैसे दार्शनिक शुद्ध हिंदी बोले या तत्सम प्रधान हिन्दी, ग्रामीण है तो देहाती भाषा, मुसलमान है तो उर्दू। यदि ऐसा नहीं है तो पात्रों में स्वाभाविकता नहीं आ सकती। प्रेमचन्द ने मुसलमानों और ग्रामीणों के संबंध में भाषा-विषयक एक विशेष सिद्धान्त बना लिया और वे उसी पर चले हैं। मुसलमान पात्र कठिन उर्दू का ही प्रयोग करते हैं यद्यपि कहीं-कहीं वे सरल उर्दू भी बोलते हैं जो सरल हिन्दी से बहुत भिन्न नहीं है और कुछ एक कहानियों में हिन्दी का भी प्रयोग करते हैं जैसे अरब कहता है—

"नहीं नहीं, शरणागत की रक्षा करनी चाहिए। आह! जालिम! तू जानता है मैं कौन हूँ। मैं उसी युवक का अभागा पिता हूँ जिसकी आज तूने इतनी निर्दयता से हत्या की है। तू जानता है तूने मुझ पर कितना बड़ा अत्याचार किया है?

तूने मेरे ख़ानदान का निशान मिटा दिया है। मेरा चिराग़ गुल कर दिया।"

परन्तु कहानी अरब से सम्बन्ध रखती है और प्रेमचन्द अरबी भाषा में कथोपकथन नहीं लिख सकते थे। जहाँ कहानी विदेश से सम्बन्धित है, एक दम नितांत नवीन भाषा-भाषी पात्रों को सामने लाती है, वहाँ तो सामान्य-भाषा का प्रयोग करना ही ठीक होगा। कठिनाई केवल उन मुसलमान पात्रों के विषय में है जो हिन्दुस्तान के ही लोग हैं परन्तु कठिन उर्दू बोलते हैं। इनकी भाषा क्या हो ? क्या वही जो यह बोलते हैं या इनकी भाषा के साथ भी वही किया जाय जो विदेशी अरब की भाषा के साथ किया गया है। इस प्रश्न को लेकर हिन्दी में कथाकारों के दो दल हो गये हैं। 'प्रसाद' के मुसलमान पात्र भी संस्कृत-गर्भित हिन्दी बोलते हैं। बख्शी ने अपनी कहानी कमलावती में रुस्तम से संस्कृतमय भाषण उपस्थित कराया है। सीधा-साधा प्रश्न यह है कि मुसलमान पात्र के लिये जो हमारे ही प्रांत में रहता है शुद्ध हिन्दी बोलना स्वाभाविक होगा या शुद्ध हिन्दी या अधिक उर्दू, कम हिन्दी। प्रेमचन्द के मुसलमान अधिकतर कठिन उर्दू बोलते हैं, जैसे—

"जब से हुज़ूर तशरीफ़ ले गये मैंने भी नौकरी को सलाम किया। ज़िंदगी शिकम-पर्वरी में गुज़री जाती थी। इरादा हुआ कुछ दिन क़ौम की ख़िदमत करूँ। इस ग़रज से "अंजुमन इत्तहाद" खोल रक्खी है। उसका मक़सद हिन्दू-मुसलमानों में मेल-जोल पैदा करना है। मैं इसे क़ौम का सबसे अहम मसला समझता हूँ। आप दोनों साहब अगर अंजुमन को अपने कदमों से मुमताज़ फरमाएँ तो मेरी ख़ुशनसीबी है।" ( प्रेमाश्रम पृ० ३५० )

"जनाब रिन्दों को न इत्तहाद से दोस्ती न मुखालिफ़त से

दुश्मनी। अपना मुशरब तो सुलहेकुल है। मैं अब यही तै नहीं कर सका कि आलम बेदारी में हूँ या ख्वाब में। बड़े-बड़े आलिमों को एक बे सिर-पैर की बात की ताईद में जमीन और आसमान के कुलाबे मिलाते देखता हूँ। क्योंकर बावर करूँ कि बेदार हूँ? साबुन, चमड़े और मिट्टी के तेल की दूकानों में आपको कोई शिकायत नहीं। कपड़े, बरतन, अदवियात की दूकानें चौक में हैं, आप उनको मुतलक बेमौक़ा नहीं समझते। क्या आपकी निगाहों में हुस्न की इतनी भी वक़अत नहीं? और क्या यह ज़रूरी है कि इसे किसी तंग व तारीक कूचे में बन्द कर दिया जाय? क्या वह बाग़ बाग़ कहलाने का मुस्तहक़ है जहाँ सरों की कतारें एक गोशे में हों, बेले और गुलाब के तख्ते दूसरे गोशे में और रविशों के दोनों तरफ़ नीम और कटहल के दरख्त हों, वस्त में पीपल का एक ढूँढ़ और हौज़ के किनारे बबूल की कलमें? चील और कौवे दोनों तरफ़ दरख्तों पर बैठे अपना राग अलापते हों और बुलबुलें किसी गोशाये तारीक में दर्द के तराने गाती हों? मैं इस तहरीक की सख्त मुख़ालिफ़त करता हूँ। मैं इस क़ाबिल भी नहीं समझता कि उस पर साथ मतानत के बहस की जाय।" (सेवासदन पृ० १८८)

जहाँ इस तरह की तकरीरें कई पृष्ठों तक चली जाती हैं, वहाँ हिन्दी का पाठक यह सोचे कि उपन्यासकार उसके साथ अन्याय कर रहा है तो कोई बेजा बात नहीं। परंतु उपन्यासकार भी लाचार है। यदि वह फ्रांसीसी और अरबी लोगों की कहानी लिखता है और उनका कथोपकथन हिन्दी में रखता है (और वह इसे हिन्दी में न रखे तो उसे पढ़े कौन, समझे कौन, फिर यह भी सम्भव नहीं कि वह दर्जनों विदेशी भाषाएँ जानता हो। तो पाठक बराबर यह समझे रहता है कि जिस भाषा में कहानीकार

लिख रहा है उस भाषा में कथोपकथन घटित न हुआ होगा। परंतु अपने प्रांत की कहानी में जहाँ मुसलमानों की बात आती है वहाँ इस तरह की बात ढह जाती है—वह मान्यता ही नहीं रहती। यहाँ जैसी परिस्थिति है उसको दृष्टि में रखते हुए कहानी उसे आस-पास ही असत्य लगेगी। क्या यहाँ का मुसलमान प्रसाद की भाषा बोलता है? या समझता है? वस्तुतः जहाँ उपन्यास हिन्दुओं के ही विभिन्न वर्गों की भाषा में थोड़ा भेद रखता है वहाँ उसे और आगे बढ़ कर मुसलमान के मुँह से उर्दू ही कहलवाना पड़ेगा—फिर चाहे वह एक वर्ग को असरल ही हो जाय। हो सकता है कभी प्रांत के पड़ोसी हिन्दू-मुसलमानों की भाषा लगभग एक हो जाय, परंतु अभी तो मुसलमान मजलिसों और घरों की भाषा (कम से कम शहर में) हिन्दुओं की भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। आँख खोल कर हिन्दू-मुसलमानों दोनों में उठने-बैठने वाले प्रेमचन्द इस यथार्थ तथ्य को जानते थे। इसीलिए उन्होंने भाषा की यथातथ्य परिस्थिति को अपनी रचनाओं में स्थान दिया। भाषा-सम्बन्धी इस विषम परिस्थिति से बचने का तरीक़ा यही है कि हिन्दू उपन्यासकार हिन्दी में लिखते हुए मुसलमानों के घर और समाज में प्रवेश ही न करे—परन्तु एक बार काजल की कोठरी में जाकर 'लीक' से बचना नहीं हो सकता। आलोचकों के एक वर्ग में प्रेमचन्द उर्दू-फ़ारसी भाषा-शैली के प्रयोग के लिए लांछित हैं, परंतु उन्होंने जो किया उसके सिवा कुछ और करना असम्भव और अस्वाभाविक था।

दूसरी समस्या ग्रामीणों की भाषा सम्बन्धी थी—इसे भी प्रेमचन्द को हल करना पड़ा। इस अध्ययन के आरंभ में हम उनका भाषा प्रयोग सम्बन्धी एक अवतरण दे चुके हैं, उससे परिस्थिति साफ़ हो जायगी। गढ़कुंडार (ले० वृन्दावनलाल)

में अर्जुन जो बात करता है अपनी ठेठ देहाती बुन्देलखंडी में करता है, परन्तु इतनी स्वाभाविकता को अकेले अर्जुन के साथ निभाया जा सकता है। जहाँ गाँव भर का चित्रण है वहाँ यदि सब लोग ठेठ देहाती बोलें तो शहरी पाठक के लिए एक विचित्र परिस्थिति उत्पन्न होगी। बोली को समझने वाले सर्वत्र नहीं होंगे, कदाचित् एक विशेष प्रदेश के आगे उसे समझने में कठिनाई होगी। अतएव यह सम्भव है कि इस प्रकार का वार्तालाप पात्रों की स्वाभाविक रूपरेखा खींच सके, परन्तु पाठक उस बोली के सौष्ठव का आनन्द उठा सकेगा। इसी भावना से प्रेरित होकर प्रेमचन्द ने ग्रामीण भाषा का प्रयोग कहीं भी नहीं किया। इतनी दूर तक यथार्थवाद का पल्ला पकड़ कर वह पाठकों के लिए एकदम दुरूह हो जाना नहीं चाहते थे। परंतु फिर भी क्या प्रेमाश्रम के देहाती पात्रों की भाषा वही है जो शहरी पात्रों की है? क्या प्रेमचन्द ने देहाती भाषा में प्रयोग होने वाले सैकड़ों शब्दों को अपने उपन्यासों और अपनी कहानियों में स्थान नहीं दिया है? क्या उनके गोबर, मनोहर, सुजान, क़ादिर—सभी ग्रामीण पात्रों की भाषा सामान्य देहाती भाषा के पास नहीं पड़ती। इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्रामीण भाषा के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने एक बीच का मार्ग ग्रहण किया है—ऐसा नहीं करते तो उनके उपन्यास में भाषाओं का अजायबघर खुल जाता और बात हास्यास्पद होती।

प्रेमचन्द की भाषा की एक ख़ास ख़ूबी उनका मुहावरों का प्रयोग है। उनके सिवा किसी भी अन्य साहित्यकार की भाषा में मुहावरों का इतना अधिक, इतना सार्थक प्रयोग नहीं हुआ है। उनके सारे साहित्य में कई हज़ार से कम मुहावरे न आये होंगे। भावों की गहनता और तीव्रता प्रगट करने में इन मुहावरों ने

चमत्कारिक सहायता दी है। 'दिल के अरमान निकालने', 'कान खड़े हुए' ( कायाकल्प पृ० ३३२ ) दोनों आदमियों में 'दाँतकाटी रोटी' थी ( वही पृ० ३३३ ) अहल्या अपनी चीज़ों को 'तीन तेरह' न होने देना चाहती थी। इससे ननद-भावज में कभी-कभी 'खटपट' हो जाती थी (वही पृ० ५३३) सब विद्वानों के 'गोरखधंधे' हैं ( वही पृ० ४०४ ) उसकी 'तूती बोलेगी' (यही पृ० ५६८) अभाव से जीवन पर्यंत उनका 'गला न छूटा' ( वही पृ० ५८८ ) बेचारे लल्लू को ये सब 'पापड़ बेलने' पड़ेंगे ( वही पृ० ४३३ )। कहीं-कहीं वे मुहावरों के बल पर ही वर्णन अथवा कथोपकथन सजाते चले जाते हैं—

"जब वह बाहर निकल गये तो गुरुसेवक ने मनोरमा से पूछा—आज दोनों इन्हें क्या पट्टी पढ़ा रहे थे ?

मनोरमा—कोई ख़ास बात तो न थी।

गुरुसेवक—यह महाशय भी बने हुए मालूम होते हैं। सरल जीवन-वालों से बहुत घबराता हूँ। जिसे यह राग अलापते देखो समझ लो, या तो इसके लिए अंगूर खट्टे हैं या वह यह स्वाँग रच कर कोई बड़ा शिकार मारना चाहता है।

मनोरमा—बाबू जी उन आदमियों में नहीं हैं।

गुरुसेवक—तुम क्या जानो। ऐसे गुरु-घंटालों को खूब पहचानता हूँ।" ( कायाकल्प पृ० १५७ )

"हुक्म मिलने की देर थी। कर्मचारियों के तो हाथ खुजला रहे थे। वसूली का हुक्म पाते ही बाग़-बाग़ हो गये। फिर तो वह अंधेर मचा कि सारे इलाक़े में कुहराम मच गया। आसामियों ने नये राजा साहब से दूसरी ही आशायें बाँधी थीं। यह बला सिर पड़ी तो झल्ला गये। यहाँ तक कि कर्मचारियों के अत्याचार देख कर चक्रधर का खून भी उबल

पड़ा। समझ गये कि राजा साहब भी कर्मचारियों के पंजे में आ गये।"

( कायाकल्प, पृ० १६५ )

मुहावरों के सिवा कहावतों और सूक्तियों का एक बड़ा ढेर उनके साहित्य में इकट्ठा है। इनसे भाषा-शैली की शक्ति और सौंदर्यमयता में पग-पग पर वृद्धि हुई है। जैसे राम राधा से वैसे राधा राम से ( काया-कल्प ) शुभ मुहूर्त पर हमारी मनोवृत्तियाँ धार्मिक हो जाती हैं। ( वही, पृ० १८० ) सच है, सबसे अच्छे मूढ़, जिन्हें न व्यापत जगत गति ( वही, पृ० ६०० ), आये थे हरिभजन को, ओटन लगे कपास ( वही, पृ० ५५१ )। मन की मिठाई घी-शक्कर की मिठाई से कम स्वादिष्ट नहीं होती ( वही, पृ० ५२१ )। इस प्रकार की सूक्तियाँ कहीं दो-चार पंक्तियों की हैं; कहीं वे ग्रंथकार के आत्मचिंतन का रूप धारण कर अधिक विस्तार पा जाती हैं।

परंतु प्रेमचंद की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी काव्यात्मकता। उपमा, उदाहरण, उत्प्रेक्षा—कितने ही अलंकारों के भीतर से बह कर आने वाला कल्पना सौंदर्य हमें आकर्षित ही नहीं कर लेता, महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्‌घाटन करता है। कुछ उदाहरण हैं—

"सामने गगन-चुम्बी पर्वत अंधकार के विशालकाय राक्षस की भाँति खड़ा था। शंखधर बड़ी तीव्र गति से पतली पगडंडी पर चला जा रहा था। उसने अपने आपको उसी पगडंडी पर छोड़ दिया है। यह कहाँ ले जायगी वह नहीं जानता। हम भी इस जीवनरूपी पतली, मिटी-मिटी पगडंडी पर क्या उसी भाँति तीव्रगति से दौड़े नहीं चले जा रहे हैं ? क्या हमारे सामने उनसे

भी ऊँचे अंधकार के पर्वत नहीं खड़े हैं ?" (कायाकल्प, पृ० ५०८)

"मन में बार-बार एक प्रश्न उठता था, पर जल में उछलने वाली मछलियों की भाँति फिर मन ही में विलीन हो जाता था।" (वही, पृ० ३१५)

"चक्रधर को ऐसा मालूम हुआ मानो पृथ्वी डगमगा रही है, मानो समस्त ब्रह्माण्ड एक प्रलयकारी भूचाल से आन्दोलित हो रहा है" (वही, पृ० ५२६) "पिता और पुत्री का सम्मिलन बड़े आनन्द का दृश्य था। कामनाओं के वे वृक्ष जो मुद्दत हुई निराशा-तुषार की भेंट हो चुके थे, आज लहलहाते, हरी-हरी पत्तियों से लदे हुए, सामने खड़े थे" (वही, पृ० ५७६) जैसे सुंदर भाव के समावेश से कविता में जान पड़ जाती है और सुंदर रंगों से चित्रों में उसी प्रकार दोनों बहनों के आने से झोपड़ी में जान आ गई। अंधी आँखों में पुतलियाँ पड़ गई हैं। मुरझाई हुई कली शांता अब खिल कर अनुपम शोभा दिखा रही है। सूखी हुई नदी उमड़ पड़ी है। जैसे जेठ-वैशाख की तपन की मारी हुई गाय सावन में निखर जाती है और खेतों में किलोलें करने लगती है, उसी प्रकार विरह की सताई हुई रमणी अब निखर गई है। प्रेम में मग्न है। नित्य प्रति प्रातःकाल इस झोंपड़े से दो तारे निकलते हैं और जाकर गंगा में डूब जाते हैं। उनमें से एक बहुत दिव्य और द्रुतगामी है, दूसरा मध्यम और मंद। एक नदी में थिरकता है, नाचता है, दूसरा अपने वृत्त से बाहर नहीं निकलता। प्रभात की सुनहरी किरणों में इन तारों का प्रकाश मंद नहीं होता, वह और भी जगमगा उठते हैं।

(सेवासदन, ३४०)

उनके साहित्य में इस प्रकार की उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं की

फूलझड़ी बराबर छूटती रहती है। जहाँ कहानी को आकर्षक बनाने के लिए अच्छे प्लाट या कथानक की आवश्यकता है, वहाँ भाषा-सौंदर्य के लिए उपमाओं की कम आवश्यकता नहीं है। पहली बात तो यह है कि इन्हीं के द्वारा पात्रों के द्वारा उपन्यासकार के हृदय पर पड़े प्रतिबिंब की झलक पात्रों को मिल सकती है। चरित्र-विश्लेषण और विवेचन पाठक को इतना नहीं छूता, जितना उपन्यासकार की तत्संबंधी स्वतः-अनुभूति। इसीलिए सफल उपन्यासकार बराबर ऐसी उपमाओं का प्रयोग करते हैं जो ऊपर से देखने पर तो साधारण जान पड़ती परन्तु वैसे उनके भीतर गहरी अनुभूति और गम्भीर तथ्य छिपे रहते हैं।

प्रेमचंद की उपमा-उत्प्रेक्षाएँ एवं उदाहरण बहुत संक्षिप्त होते हैं परंतु मनुष्य-प्रकृति का गहरा अध्ययन उनमें छिपा होता है। उनकी भाषा सरल और सर्व-सुगम होती है। वह आध्यात्मिक वैयक्तिक एवं सामाजिक सच्चाई को अत्यंत सुष्ठ शब्दों में हमारे सामने रखते हैं। उनसे उनकी तीक्ष्ण पर्यवेक्षण शक्ति और सूक्ष्म दृष्टि का पता चलता है जैसे—

"एक छोटा-सा तिनका भी आँधी के समय मकान पर जा पहुँचता है"। "काँच का टुकड़ा जब टेढ़ा होता है तो तलवार से अधिक काट करता है।" परंतु उन्होंने कहीं-कहीं अत्यंत सुंदर बड़े रूपक भी बाँधे हैं जो काव्य में सौंदर्य-गीतिकाव्य की भाँति स्वच्छ और उत्कृष्ठ है—

"अरावली की हरी-भरी, झूमती हुई पहाड़ियों के दामन में जसवंतनगर यों शयन कर रहा है, जैसे बालक माता की गोद में। माता के स्तन से दूध की धारें, प्रेमोद्गार से विकल, उबलती, मीठे स्वरों में गाती, निकलती हैं, और बालक के नन्हे-से मुख में न समा कर नीचे बह जाती हैं। प्रभात की स्वर्ण-किरणों में नहा

कर माता का मुख निखर गया है, और बालक भी, अंचल से मुँह निकाल-निकाल कर, माता के स्नेह-स्रावित मुँह की ओर देखता है, हुमुकता है, और मुसकुराता है, पर माता वार-बार उसे अंचल से ढक लेती है कि कहीं उसे नज़र न लग जाय।

सहसा तोप के छूटने की कर्ण-कटु ध्वनि सुनाई दी। माता का हृदय काँप उठा, बालक गोद से चिपट गया।

फिर वही भयंकर ध्वनि ! माँ दहल उठी, बालक सिमट गया। फिर तो लगातार तोपें छूटने लगीं। माता के मुख पर आशंका के बादल छा गये। आज रियासत के नए पोलिटिक्ल एजेन्ट यहाँ आ रहे हैं। उन्हीं के अभिवादन में सलामियाँ उतारी जा रही है।" ( रंगभूमि, पृ० ४५८ )

उनकी उपमा-उत्प्रेक्षाएँ उनके पात्रों के मनोविज्ञान की इस खूबी से स्पष्ट करती हैं कि हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं। जैसे–

"शिकरे के चंगुल में फँसी हुई फ़ाख्ता की तरह कामिनी के होश उड़ गए"

"नदी दूर ऊँचे किनारों में इस तरह मुँह छिपाये हुए थी जैसे कमज़ोरों में जोश"

फिर उनकी चुस्ती ( सौष्ठव ) तो देखने योग्य है—

"मथुरा की जान उस समय तलवार की धार पर थी"

"जैसे दबी हुई आग हवा लगते ही सुलग जाती है वैसे तकलीफ़ के ध्यान से उनका ब्रह्मपुरी का सोया हुआ चाँद जग उठा।" और जहाँ वे इनके बल पर प्रकृति चित्रण करते हैं, वहाँ तो साधारण शैलीकार की पहुँच के बाहर हैं—"पेड़ों की काँपती हुई पत्तियों से सरसराहट की आवाज़ निकल रही थी मानो कोई वियोगी आत्मा पत्तियों पर बैठी हुई सिसकियाँ भर रही हो"

प्रेमचंद की भाषा-शैली के क्रमविकास का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनकी अपनी वैयक्तिक शैली है। उनकी प्रारंभिक रचनाओं से लेकर उनकी अंतिम रचनाओं तक शैली में विशेष अंतर नहीं आया है, हाँ उसके भिन्न-भिन्न रूप प्रकाश में आते रहे हैं और वह बराबर पुष्ट होती रही है। कायाकल्प तक शैली में धीरे-धीरे तत्समता और काव्यात्मकता का बराबर विकास होता गया है, अशुद्ध प्रयोग कम होने लगे हैं। कायाकल्प से गोदाम तक की भाषाशैली वैभिन्न्य और प्रौढ़ता में अद्वितीय है। वह धीरे-धीरे काव्यात्मकता से हट कर संयम और मितव्ययता की ओर जा रही है। गोदान में हम उसके सबसे सुंदर, सुष्ठ और संयमित रूपों से परिचित होते हैं। भाषा तत्सम-प्रधान है, शैली गीतिकाव्य की शैली की भाँति संगठित, संयोजित और स्वस्थ। प्रेमचंद जो कहना चाहते हैं वे कम-से-कम शब्दों में अधिक से अधिक प्रभाव के साथ कह देते हैं।

प्रश्न यह हो सकता है कि प्रेमचंद की भाषा-शैली समसामयिक निबंधकारों और कथाकारों की भाषा-शैली से भिन्न किस प्रकार है। हम कहेंगे इन बातों में भिन्न है—१. उर्दू शब्दों के प्रयोग से उसमें प्रवाह आ गया है, २. मुहावरों का इतना प्रयोग कि मुहावरे ही उनकी भाषा-शैली की जान हैं, ३. सूक्तियों का अधिक प्रयोग, ४. संयमित काव्यात्मकता, ५. रसनिरूपण की शक्ति। उचित यह है कि हम इस बात का अध्ययन करें कि प्रेमचंद की भाषा-शैली उनकी पहली उर्दू रचनाओं की कितनी ऋणी है और खुद उनकी उर्दू भाषा-शैली को उर्दू भाषा-शैली के इतिहास में क्या स्थान है। प्रेमचंद ने हमें हिन्दुस्तानी-हिंदी ( प्रेमचंदी हिंदी ) दी है। वे हमारी भाषा के श्रेष्ठतम कलाकार हैं। उनके बाद भाषा-शैली के क्षेत्र में प्रयोग चाहे जैनेन्द्र करें या

अज्ञेय, प्रयोग प्रयोग हैं। प्रेमचंद की भाषा की सुषमा, उसका सुलभाव, उसकी मस्ती, उसका प्रवाह, उसका व्यंग्य इन प्रयोगों में कहाँ है। कथा की रोचकता की दृष्टि से तो वे हानिकर ही अधिक हैं। प्रेमचंद के बाद न कथा-साहित्य में, न अन्य किसी क्षेत्र में ही उनकी भाषाशैली का प्रयोग हुआ। इस ज़मीन पर चलना ही कठिन था। इसी से प्रेमचंद की भाषा-शैली निर्द्वन्द, स्वच्छंद, प्रेमचंद की छाप लिये एकांत खड़ी है। हमें चाहिये कि हम उसका विश्लेषण करें और देखें कि उसमें राष्ट्रीय भाषा होने की कितनी क्षमता है।

१५

## प्रेमचंद की कहानियाँ

हिन्दी के आदर्शवादी कहानी-लेखकों में प्रेमचंद का स्थान सबसे ऊँचा है। परन्तु उन्हें केवल आदर्शवादी ही कह कर हम उनकी पूरी समालोचना नहीं कर सकते। सच तो यह है कि प्रेमचंद का दृष्टिकोण अवश्य आदर्शवादी था परन्तु वह अपने कहानी के नियम और उसके लगभग सभी अंगों को यथार्थ जीवन से लेते थे। उन्होंने अपनी कहानियों में एक प्रकार से आदर्शवाद और यथार्थ का सुन्दर गठबन्धन किया है और एक प्रकार से इन दो विषम दृष्टिकोणों में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है? जिस नई भूमि पर वे काम करते थे, उससे वे भली-भाँति परिचित थे। इसी से उन्होंने अपने दृष्टिकोण का नाम "आदर्शोन्मुख यथार्थवाद" रखा था। वास्तव में यह नाम उनके दृष्टिकोण के लिये बहुत उपयुक्त था। इससे हमें एकदम प्रेमचंद की उस विशेषता का पता चल जाता है जो कहीं-कहीं उनकी रचनाओं को बल देती है और कहीं-कहीं उन्हें निर्बल बना देती है।

प्रेमचंद ने हिन्दी-साहित्य को ढाई-तीन सौ कहानियाँ दी हैं। इन कहानियों में उन्होंने जीवन की अनेक समस्याओं पर प्रकाश डाला है और समाज, राष्ट्र और व्यक्ति के अनेक अंगों का स्पर्श किया है। यदि हम उनकी कहानियों को कला की दृष्टि से देखें तो भी हम अनेक प्रयोग पायेंगे? उन्होंने पूर्व और पश्चिम की विभिन्न शैलियों को हमारे सामने उपस्थित किया है और अनेक

स्थानों पर अपना मौलिकता का परिचय भी दिया है। प्रेमचंद की कहानियों की संख्या इतनी अधिक है, उनकी कहानियों का क्षेत्र इतना विस्तृत है और उनके कला के प्रयोग इतने बहुसंख्यक हैं कि उन पर संक्षेप में विचार करना कठिन हो जाता है! उनके संबन्ध में विशेष अध्ययन के अभाव के कारण यहाँ पर हम संक्षेप में ही विचार कर सकेंगे।

सबसे पहली बात जो प्रेमचंद की थोड़ी ही कहानियों को पढ़ने के बाद पाठक को स्पष्ट हो जाती है वह यह है कि वे भारतीय संस्कृति से अच्छी तरह परिचित हैं। वे जानते हैं, हमारी संस्कृति का हृदय कहाँ है और उससे जो जीवन-धारायें निकलती हैं, वे किस ओर बहती हैं। भारतीय संस्कृति में एक विशेषता यह है कि उसने देह से अधिक आत्मा पर बल दिया है, उसका आधार आध्यात्मिक है, भौतिक नहीं। प्रेमचंद इस बात को जानते थे। इसीलिए उनकी रचनाओं में दैवीगुणों की प्रधानता है। वे हमें एक बार भौतिकता से हटा कर आध्यात्मिकता की ओर ले जाते हैं। इस प्रकार प्रेमचंद का एक सांस्कृतिक संदेश है जो उनकी रचना पर भारतीयता की छाप लगा देता है। पश्चिम ने जहाँ हमारे सामने ज्ञान-विज्ञान के अनेक मार्ग रखे, वहाँ उसने हमारी आत्मा का रस चूस लिया। हम धीरे-धीरे पुराने आदर्शों से हट गये। इस समय हम संक्रातिकाल में हैं। यदि इस युग में हम अपने प्राचीन महत् आदर्शों को अपनी आँख की ओट कर देते हैं और पश्चिम के दिखाए हुए मार्ग पर अंधे की तरह आगे बढ़ते चले जाते हैं तो हमारा भविष्य निश्चय ही काला है। प्रेमचंद ने इस सत्य को हमारे सामने रखा है और हमें चेतावनी दी है। उन्हें प्रत्येक उस बात से प्रसन्नता होती है जो उन्हें पुराने सांस्कृतिक आदर्शों को स्पष्ट करने का अवसर

देती है। उन्होंने भौतिकता को स्वीकार करते हुये आध्यात्मिकता से हाथ नहीं धो लिया, वरन् इन दोनों सीमाओं के बीच का मार्ग निकालने की चेष्टा की।

प्रेमचंद की कहानियों के अनेक वर्ग किये जा सकते हैं। इनमें एक वर्ग उनकी सांस्कृतिक कहानियों का भी होगा। इस प्रकार की कहानियों में हम उनकी ऐतिहासिक कहानियों को भी गिन सकते हैं। प्रेमचंद की प्रतिभा ऐतिहासिक कहानियों में दिलचस्पी नहीं लेती थी। भारतीय इतिहास का उनका इतना अच्छा अध्ययन भी नहीं था, जितना प्रसाद का। प्रसाद जब कोई ऐतिहासिक कहानी लिखते थे तो उस विशेष काल के सम्बन्ध में सूक्ष्म खोज करते थे जिसका संबन्ध उनकी कहानी से होता और उस काल की संस्कृति के बिखरे हुये तत्त्वों को कहानी का रूप देकर हमारे सामने रखते थे। वे न कोई सांस्कृतिक संदेश देना चाहते थे और न कोई नैतिक संदेश। वे उस काल की संस्कृति मात्र का चित्र हमारे सामने रख कर अलग हो जाते थे। उनका ध्यान विशेष वातावरण और विशेष मनोविज्ञान पर अधिक रहता था। प्रेमचंद इन सब बातों की ओर ध्यान नहीं देते थे। उन्होंने ऐतिहासिक कहानियाँ इसलिये लिखीं कि वे भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को हमारे सामने उन्हीं के द्वारा रख सकते थे। उन्होंने हमारे इतिहास के ऐसे पृष्ठों को ही चुना जो हमें विशेष सांस्कृतिक शिक्षा दे सकते थे। उनकी अधिकांश कहानियाँ राजपूतों, मराठों और ठाकुरों की कहानियाँ हैं जो बात पर जान देते थे, देश-प्रेम जिनका प्रखर सङ्ग था, जो शरणागत की रक्षा के लिए सदा तत्पर रहते थे फिर चाहे वह उनका शत्रु ही क्यों न हो। उन वीरों की स्त्रियाँ बलिदान की मूर्त्तियाँ हुआ करती थीं। अपने सतीत्व की रक्षा के लिए वे जलती हुई आग में कूद पड़ती थीं। रण से भागे हुए

पति के लिए उनके द्वार बंद थे। इस प्रकार की सभी कहानियों में चाहे नायक पराजित ही हो और चाहे कहानी दुखांत हो परन्तु भौतिक शक्ति के आगे आध्यात्मिक शक्ति कहीं नहीं झुकतीं। देह के ऊपर आत्मा, तलवार के ऊपर प्रेम, असत्य के ऊपर सत्य और पाप के ऊपर पुण्य की महत्ता स्थापित करना प्रेमचंद का ध्येय था। यही भारतीय संस्कृति का बीज मंत्र भी है।

राजपूत काल के सिवा प्रेमचंद ने उत्तर मुग़ल काल और पूर्व अंग्रेज़ काल पर भी कहानियाँ लिखी हैं। इन कहानियों में उन्होंने हमारे सांस्कृतिक पतन के चित्र दिये हैं और समाज के अंगों में घर करते हुये घुन का इशारा किया है। उनकी इन कालों की कहानियाँ राजपूत काल की कहानियों के संदेश को और भी जगमगा देती हैं। जहाँ एक ओर राजपूत योद्धा अपने राजा के लिए और अपने देश के लिये प्राणों का उत्सर्ग करने में भी बिलंब नहीं लगाते, वहाँ अवध की नवाबी के विलासतापूर्ण दिनों में मिर्ज़ा, और सैयद अपने बादशाह को आँखों के सामने बंदी हुआ देख कर भी उत्तेजित नहीं होते। वैसे वे शतरंज के बादशाह पर जान दे देते हैं ( देखो "शतरंज के खिलाड़ी" )

इन सब कहानियों में हमें प्रेमचंद की कहानियों की एक विशेषता मिलेगी। उनमें ऊँचे दरजे का प्रेम है। वह पीछे की ओर इसलिये देखते हैं कि वास्तव में भविष्य की समस्या अधिक भिन्न नहीं है। वे देश की प्राचीन महत्ता के चित्र उपस्थित करते हैं और पाठकों को देश के लिए भविष्य में बलिदान होने के लिये तैयार करते हैं। उनके कितने ही प्रधान पात्र देश-प्रेम के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

परन्तु प्रेमचंद की तीसरी और कदाचित् एक से बड़ी विशेषता यह है कि वे अपनी कहानियों में बहुत ऊँचे दरजे का

स्थानीय रङ्ग देते हैं। जिस स्थान और समाज का वह चित्रण करने लगते हैं वह हमारे सामने जीवित हो जाता हैं। यही क्षेत्र उनकी मौलिकता का क्षेत्र है। प्रेमचंद की इस प्रकार की कहानियों के हम दो भाग कर सकते हैं—(१) मध्यवित्त नागरिक के घरेलू जीवन की कहानियाँ, (२) गाँव की कहानियाँ। एक तीसरी प्रकार की कहानियाँ उनकी वे कहानियाँ हैं जिनका संबन्ध मज़दूरों से है परन्तु उन्होंने मज़दूर-वर्ग का चित्रण कहानी की अपेक्षा उपन्यास में कहीं अच्छा किया है।

प्रेमचंद से पहले जो कहानियाँ लिखी जाती थीं उनमें कल्पना का रंग सत्य के रंग से कहीं अधिक गहरा रहता था। वे अधिकतः नागरिक जीवन से संबंध रखती थीं परन्तु उनका उद्देश्य समाज-सुधार रहता था। जीवन के भीतर बैठने की कोई चेष्टा नहीं होती थी और न सामाजिक विकारों को मनोविज्ञान का विषय बनाया जाता था। प्रेमचंद जब क्षेत्र में आये तब उन्होंने पहले पहल ऐसी कहानियाँ लिखीं जिनका संबंध समाज-सुधार से था। वे आर्यसमाज के धर्मसुधार से प्रभावित भी थे। इस क्षेत्र में भी उनकी कहानियाँ अन्य कहानियों से विशिष्ट हैं। शीघ्र ही उन्होंने अपनी दृष्टि समाज-सुधार से हटा कर मनोविज्ञान पर डाली। उन्होंने मध्यवित्त लोगों और उत्तमवित्त लोगों के मानसिक, आध्यात्मिक और आर्थिक संघर्षों के यथार्थ चित्र उपस्थित किये। प्रति दिन के साधारण जीवन की मनोवैज्ञानिक तत्त्वों की खोज करने वाली पैनी दृष्टि उन्होंने पाई थी। उनसे पहले घरेलू जीवन में मनोविज्ञान की स्थापना नहीं हुई थी यद्यपि मनोविज्ञान कहानी का विषय बन चुका था।

प्रेमचंद का सबसे अधिक मौलिक क्षेत्र भारतीय गाँव था। प्रेमचंद से पहले देहाती जीवन की कहानियाँ नहीं लिखी गई

थीं। देहात का जीवन भी किसी कहानी का विषय हो सकता है यह कदाचित् किसी लेखक ने नहीं सोचा था। प्रेमचंद ने इस क्षेत्र को अपनाया और उन्होंने इसका इतना अध्ययन किया कि उनके पदचिन्हों पर भी नहीं चल सके। आज यदि हम चाहें कि एक विदेशी हमारे देश से भली भाँति परिचित हो जाय तो हम प्रेमचंद की कहानियों को छोड़ कर उसे क्या देंगे? भारत की नाड़ी कहाँ दुख रही है? यह उनके सिवा और किसने अधिक समझा है। भारत का सच्चा प्रतिनिधि उसका किसान है और प्रेमचंद की कहानियों में सच्चा रूप हमें मिलेगा। प्रेमचंद की देहाती कहानियों को हमें कथा और विषय दोनों के दृष्टिकोण से देखना होगा। देहाती किसान की भौतिक और आध्यात्मिक कठिनाइयाँ क्या हैं, ज़मींदार, महाजन, पुलिस और पटवारी इन सबके बीच में वह किस तरह पिस जाता है।

सामाजिक परम्पराएँ उसे क्या कष्ट देती हैं और स्वयम् उसके पराजित भाव किस प्रकार उसके मन में विष घोल देते हैं और उसके जीवन को नष्ट कर देते हैं। वह कैसे उन कष्टों को सहता है और ईश्वर-विश्वास के सहारे अपनी नाव पार लगाना चाहता है। किस प्रकार अंत में जैसे सारी प्रकृति उसके विरुद्ध खड़ी हो जाती है। जहाँ पानी का एक छींटा क़ाफ़ी होता, वहाँ प्रलय के बादल टूट पड़ते हैं या आसमान तांबे की तरह तपता है और एक बूँद पानी नहीं देता। अनावृष्टि है, बाढ़ है, ओलापाला है, फिर पशु हैं जो आँखें दबते ही पकी खड़ी खेती चर जाते हैं और अंत में परस्पर के ईर्ष्या और द्वेष से उसके महीनों के परिश्रम पर पानी फिर जाता है। किसान इन सभी भौतिक बाधाओं से लड़ता है और एक दिन अंत में हार कर अपना ईश्वर-विश्वास भी खो देता है। प्रेमचंद ने इन सभी

परिस्थितियों में किसान का चित्रण किया है। मनुष्य की आध्यात्मिक विजय यही है कि वह महान् अदृष्ट विरोधी शक्तियों से अंत तक लड़ता रहता है और उसकी हार अवश्यम्भावी होने पर भी हम उसकी आत्मा की महानता के क़ायल हो जाते हैं।

प्रेमचंद मनुष्य को धीरे-धीरे संघर्षों के बीच में से होकर ऊँचे आध्यात्मिक स्तर पर उठा देते हैं। प्रत्येक महान् कहानी-लेखक यही करता है। एक प्रकार से ट्रेजेडी (दुखांत) का मूलमंत्र यही है। हो सकता है कि संघर्ष में मनुष्य की आत्मा टूट जाय और वह अंधकार में रह कर सड़ने लगे। यह आवश्यक नहीं है कि अंत में उसे प्रकाश मिले! यथार्थवादी लेखक प्रेमचंद पर यही दोष लगाते हैं। वे कहते हैं कि प्रेमचंद जिस सत्य को हमें दिखलाते हैं वह जीवन और संसार का सत्य नहीं है। उनका अपना सत्य है। संसार में मनुष्यता और मानवता की विजय सदा ही नहीं होती। जीवन में बहुत कुछ सड़ा-गला है। लेखक उसे क्यों छिपाये अथवा कल्पना, कला और आदर्श का रंगीन आवरण देकर उसे असत्य और भ्रमात्मक क्यों बनाये? इस तर्क की सिद्धि में बहुत कुछ कहा जा सकता है। प्रेमचंद अपनी अंतिम कहानियों में नग्नरत्न की ओर बढ़ रहे थे और यथार्थ-वादियों ने उनका स्वागत भी किया था। परंतु प्रेमचंद का बल उनका यही आदर्शवाद था। वह छोटे-छोटे लेखकों की तरह व्यर्थ की मौलिकता पसंद नहीं करते थे। महान् लेखकों की तरह वे जीवन के क्षुद्र कष्टों और भौतिक अथवा सांसारिक व्याधाओं से आत्मा के महान् देवत्व को पराजित नहीं करना चाहते थे।

गाँव के प्रति प्रेमचंद का दृष्टिकोण आदर्शवादी लेखक का दृष्टिकोण है। वह देहात के जीवन की कठिनाइयों का चित्रण अवश्य करते थे परन्तु साथ-साथ वे उस जीवन के

आकर्षण को भी अपनी कहानियों में स्थान देते थे। प्रेमचंद शहर के रहने वाले थे यद्यपि गाँव से उनका निकटतम संबंध था। २०वीं शताब्दी में गाँव और नगर के जीवन में बहुत अंतर हो गया। हमारा मध्यवित्त समाज नगर के आर्थिक संघर्ष और अप्राकृतिक वातावरण से ऊब कर देहात के माल और प्राकृतिक जीवन की ओर एक विशेष मोह की दृष्टि से देखने लगा। उसने देहात के संकटों को जानते हुए भी उसकी प्रशंसा के गीत गाये। अपने विशेष मनोभावों के कारण गाँव उसके लिए सरल जीवन और सुन्दरता के प्रतीक हो गये। प्रेमचंद की रचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मध्यवित्त जनता के इस दृष्टिकोण से भी प्रभावित थे। उन्होंने उपेन्द्रनाथ "अश्क" को जो पत्र लिखा है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है—"भाई, मनुष्य का बस हो तो कहीं देहात में जा बसे, दो-चार जानवर पाल ले और जीवन को देहातियों की सेवा में व्यतीत कर दे" (६ जूलाई १६३६ को लिखा, देखिये हंस का प्रेमचंद स्मारक अंक)।

अपने इसी आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण वे अपनी कहानियों और उपन्यासों में बार-बार आदर्श गाँव के निर्माण की चेष्टा करते हैं और गाँव के प्राकृतिक दृश्यों को अपनी रचनाओं में प्रधान स्थान देते हैं।

ऊपर हमने प्रेमचंद की उन कहानियों के विषय में लिखा है जो स्थान विशेष और वर्ग-विशेष से सम्बन्ध रखती हैं। इन कहानियों के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि उनसे लेखक का क्षेत्र सङ्कीर्ण हो जाता है और जो पाठक उस विशेष स्थान या वर्ग से परिचित हैं उसके लिए ऐसी कहानियों का महत्व नहीं रह जाता क्योंकि उसे उनमें आनन्द नहीं मिलता। एक हद तक

यह बात ठीक हो सकती है और प्रेमचंद से छोटे कलाकार के हाथ में इस प्रकार की कहानियों का अधिक महत्व नहीं होता परन्तु प्रेमचंद ऊँचे कलाकर हैं। वे यह जानते हैं कि कहानी में विश्वव्यापी मनोवैज्ञानिक तथ्यों को किस प्रकार स्थापित किया जाता है। उनकी प्रत्येक देहाती या घरेलू कहानी के मूल में मानव-जीवन और मानव-प्रकृति के ऐसे तथ्य हैं जो सब स्थानों और सब वर्गों के मनुष्य के लिये एक होते हैं। उन्होंने स्थानीय और समसामयिक घटनाओं को ऊँचे मनोवैज्ञानिक सत्य और ऊँचे आदर्श को उपस्थित करने का साधन बनाया है। उनकी कहानी में देहात और घर वीथिका-मात्र हैं। प्रेमचन्द ने अपने पत्र में इस सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। साधारण मनुष्य की दृष्टि में प्रतिदिन के जीवन की घटनाएँ एक विशेष स्थान और समय तक सीमित रहती हैं परंतु चिंतनशील कलाकार इन घटनाओं के पीछे छिपे हुये मनोविज्ञान पर विचार करता है और उनमें एक विश्वजनीन कारण की स्थापना करता है जो समय और स्थान की सीमा से ऊपर उठे हुए होते हैं। अधिकांश समालोचक प्रेमचंद की घरेलू और देहाती कहानियों को घर और देहात तक सीमित समझ कर भूल करते हैं। वे उनके पीछे छिपी हुई विराट् मानवीयता और विश्वजनीनता को नहीं देख पाते।

एक और महत्वपूर्ण बात जो हमें प्रेमचन्द में मिलती है वह उनका मानव-प्रकृति का गहरा अध्ययन है। इसे दूसरे शब्दों में हम 'मनोविज्ञान' कह सकते हैं। यही मनोविज्ञान प्रेमचंद का बल है। मनुष्य एक ही तरह की घटना से किस तरह प्रभावित होता है? सुख-दुख, हर्ष-शोक, ईर्षा-द्वेष, प्रेम-घृणा आदि प्राकृतिक मनोभावों को मनुष्य अपने कार्यकलाप में किस प्रकार प्रगट

करता है ?—ये सब बातें मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखती हैं। अपने विशेष व्यक्तित्व के कारण पृथक्-पृथक् होते हुये भी एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से अनेक बातों में अभिन्न है। कारण यह है कि मनुष्य का मन एक प्रकार से विकसित होता है। यही कारण है कि कहानी को विश्वजनीन बनाने और उसमें ऊँचे तत्त्वों की स्थापना करने के लिये कहानीकार मनोविज्ञान का आश्रय लेता है। प्रेमचंद की कहानियाँ मनोवैज्ञानिक तत्त्वों से भरी पड़ी हैं। उन्होंने मनोविज्ञान का आश्रय कई प्रकार से लिया है—शैली, वर्णन के ढङ्ग, उपमा, कथोपकथन, कथानक इन सभी अंगों को वे मनोविज्ञान से पुष्ट करते चलते हैं।

यदि प्रेमचन्द की रचनाओं को उनसे पहले आने वाले कलाकारों की रचनाओं के सामने रखा जाय तो हमें इस क्षेत्र में उनकी महत्ता का ज्ञान हो जायगा। २०वीं शताब्दी के पहले १५ वर्षों की कहानियों में केवल प्रसाद की कहानियों को छोड़ कर हम मनोवैज्ञानिक चित्रण कहीं भी प्रधान नहीं पायेंगे। प्रेमचंद ने पहले-पहल कहानी को मनोविज्ञान से स्पष्ट करने का साधन बनाया और अपनी कहानियों में हर जगह मानव-प्रकृति और विश्वव्यापी नैतिक तत्त्वों की स्थापना की। वर्ड्सवर्थ के स्काई-लार्क ( लवापक्षी ) की तरह वह पृथ्वी से बहुत ऊँचे उठ सकते थे और साथ ही पृथ्वी के साथ अपना सम्बंध भी बनाये रख सकते थे।

मनोविज्ञान पर आश्रित होने के कारण ही प्रेमचंद की कहानियों में यथार्थवाद को विशेष स्थान मिला है, उनका दृष्टिकोण और जीवन के सम्बन्ध में उनके विचार भले ही आदर्शवादी हों। यही कारण है कि हम उनकी कहानियों और उनके पात्रों को अपने प्रतिदिन के साधारण जीवन में पा सकते हैं। परंतु यदि

हम ध्यान से देखें तो प्रेमचन्द अपनी प्रत्येक कहानी के अंत में यथार्थवाद से दूर हट जाते हैं। उनकी अधिकांश कहानियों का अंत एक विशेष नैतिक दृष्टिकोण को उपस्थित करता है। उनकी धारणा कदाचित् यह मालूम होती है कि प्रत्येक भले काम का फल भला होता है। अंधकार पर ज्योति की और पाप पर पुण्य की विजय होती है। हम जिस जीवन से परिचित हैं उसमें साधारणतः ऐसा नहीं होता। प्रेमचन्द कहानी के अंत में अपने प्रधान पात्र को सुधार देते हैं और दुखांत की ओर जाती हुई कहानी को सुखांत बना देते हैं। यथार्थवादी प्रेमचन्द को यही उपालम्भ देते हैं। परंतु यदि हम प्रेमचन्द की सब कहानियों का सूक्ष्म अध्ययन करें तो हमें यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रेमचन्द की अधिकांश कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें अंत किसी दूसरी प्रकार हो ही नहीं सकता और वह अस्वाभाविक नहीं लगता। यदि दोष किसी का है तो वह प्रेमचन्द के मूलतः आदर्शवादी दृष्टिकोण का है जिसके कारण वे जीवन से ऐसी परिस्थितियाँ चुनते हैं जिनका अंत सुखमय हो। वे अपने चरित्र-चित्रण और कथावस्तु में यथार्थवादी हैं परंतु दृष्टिकोण में आदर्शवादी। फिर भी प्रेमचन्द की अनेक कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें उनकी सुधारक प्रकृति के दर्शन होते हैं और इसी कारण इस प्रकार की कहानियों का अंत कुछ अप्राकृतिक हो गया है। ऐसा जान पड़ता है कि कहानीकार अपनी कहानियों के द्वारा कुछ विशेष नैतिक तत्त्वों का प्रतिपादन करना चाहता है। कला की दृष्टि से यह बात वांछनीय नहीं है।

यह हुई प्रेमचन्द के विशेष दृष्टिकोण और क्षेत्र की बात। इसके सिवा पात्रों के चरित्र-चित्रण, कहानी के वस्तु-संगठन, शैली और कथानक में हमें प्रेमचन्द की विशेषताएँ स्पष्ट हो

जाती हैं और जो पाठक प्रेमचन्द की कुछ कहानियों से परिचित हैं वह उनके विशेष व्यक्तित्व का अनुभव करते हैं।

हम पहले प्रेमचन्द के पात्रों पर विचार करेंगे। प्रेमचन्द की कहानियों के अधिकांश पात्र आदर्श होते हैं। हम उनसे शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं और उन्हें अपना पथप्रदर्शक बना सकते हैं। इनमें अधिकतः दुर्बलताएँ नहीं होतीं और जो होती भी हैं तो अधिक महत्वपूर्ण नहीं। परन्तु अपने जीवन के अन्त-काल की कहानियों में उन्होंने कुछ यथार्थपात्र भी हमारे सामने रखे हैं। उनके अन्तिम उपन्यास गोदान का नायक होरी भारतीय किसान की कमज़ोरी का वास्तविक चित्रण है। उनके जीवन के अन्तिम दिनों में राजनैतिक क्षेत्र में समाजवाद और साहित्यिक क्षेत्र में यथार्थवाद के आन्दोलनों का श्रीगणेश हो गया था और प्रेमचन्द इन आन्दोलनों से प्रभावित थे। इन आन्दोलनों की नींव जीवन के वास्तविक सत्य पर थी। परन्तु प्रेमचन्द के पात्र चाहे आदर्श हों, चाहे यथार्थ, वे दोनों एकदम पूर्ण विकसित रूप में कहानी में उपस्थित नहीं होते। प्रेमचन्द धीरे-धीरे अपने पात्र को विकसित करते हैं। कहानी के अंत में पात्र जो कार्य करता है उसके लिये वे धीरे-धीरे भूमि तैयार करते हैं और कारण उपस्थित करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द पात्र को ऐसे समय हमारे सामने उपस्थित करते हैं जब वह स्वयं विषम परिस्थिति में पड़ा होता है। वह एक विशेष मानसिक संघर्ष लेकर हमारे सामने आता है। उसके सामने दो प्रिय वस्तुयें हैं और उसे दोनों में से एक को चुनना है। अंत में वह एक वस्तु को चुन लेता है, परंतु अकारण ही नहीं। पात्र का मानसिक वातावरण एवं विकास उसे इस चुनाव के लिये तैयार

करता है। यह मानसिक संघर्ष प्रेमचन्द की कहानियों की विशेषता है।

प्रेमचन्द अपने पात्रों को कहानी के प्रारम्भ से ही हमारे सामने लाते हैं। वे उनकी विशेषतायें बतला देते हैं और उनका अधिक से अधिक स्पष्ट चित्र हमारे मानसिक पट पर अंकित कर देते हैं। कहानी का प्रधान भाग कहानी के आरम्भ में दी हुई कुछ विशेषताओं को प्रगट करता है। इससे यह लाभ अवश्य होता है कि पाठक आरम्भ से विशेष घटनाओं और विशेष प्रतिक्रियाओं के लिये तैयार हो जाता है। परन्तु यथार्थवादी दृष्टिकोण से इस प्रकार के संगठन में एक प्रकार का दोष भी है। यथार्थवादी कहते हैं—हम किसी वस्तु से एकदम परिचित नहीं हो जाते। हम अपने पात्रों की विशेषतायें कैसे जान लें? मनुष्य पहले दूसरे मनुष्यों से कार्य-कलापों और व्यवहारों से परिचित होता है और इस परिचय के आधार पर वह उसकी कुछ विशेषतायें समझता है। यथार्थवादियों के दृष्टिकोण के अनुसार कहानीकार के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह पात्र की विशेषताओं अथवा एक विशेष मनोविज्ञान का वर्णन करे। पाठक इन्हें स्वयम् कहानी से चुन लेगा। लेखक का धर्म केवल मनोवैज्ञानिक और संघर्ष पूर्ण परिस्थिति का चित्रण है। कहानी के पहले ही पात्र के संबन्ध में कुछ लिख देना कला की दृष्टि से भी दोष है चूँकि इस प्रकार लेखक पाठक को आने वाले संघर्ष के संबन्ध में राय देता है एवं समस्या अथवा परिस्थिति के हल को अपनी तरफ़ से सुझा देता है। इस प्रकार कहानी के अंत में वह आकस्मिकता नहीं रहती जो उस दशा में रहती जब पाठक पात्र के विशेष मनोविज्ञान से अधिक परिचित नहीं हैं।

९२ अपनी कहानी को कला की ऊँची भूमि पर उठाने के लिए प्रेमचन्द कहानी के संगठन और वातावरण से भी काम लेते हैं। उनके प्राकृतिक वर्ताव व्यर्थ नहीं होते। वे पात्रों के मनोविज्ञान को स्पष्ट करते हैं। वे प्रत्येक वस्तु का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं। यहाँ तक कि पात्रों के वस्त्रों और चेष्टाओं का वर्णन भी काफ़ी स्थान घेर लेता है। इस विस्तार से प्रेमचन्द के दो अर्थ होते हैं। एक तो वे अपनी वर्णन की हुई वस्तु का अधिक से अधिक स्पष्ट चित्र पाठकों के सामने रखना चाहते हैं और दूसरे पाठक के मानसिक संघर्ष की ओर इशारा करते हुये पाठकों को आगे आने वाली घटना के लिए तैयार करते हैं। कहानी-जैसे छोटे साहित्य के माध्यम में अधिक विस्तारपूर्ण वर्णन दोष हो जाता है। अच्छी कला यह है कि कलाकार अभिधा की अपेक्षा व्यंजना से अधिक काम ले और सूक्ष्म वर्णन से विस्तृत चित्र की व्यंजना करे। प्रेमचन्द के बाद के कलाकार अपनी कहानियों में इस विषय में बहुत सतर्क रहते हैं। यदि हम प्रेमचन्द के वर्णनों को देखें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि उनका विस्तार ही कितनी ही कहानियों का गुण है। जीवन की अनेक साधारण घटनाओं को उन्होंने अपने अर्थ देकर और उनका सूक्ष्म एवं विस्तार-पूर्ण वर्णन एवं चित्रण करके उन्हें आकर्षक और महत्त्वपूर्ण बना दिया है। यह अवश्य है कि प्रेमचन्द की कहानियों में पाठकों को अपनी स्वतंत्र कल्पना से काम लेने के लिये अधिक स्थान नहीं मिलता, परन्तु शायद प्रेमचन्द यह बात चाहते भी नहीं। वे अपनी कहानियों में एक विशेष प्रभाव लाना चाहते हैं और अपने वर्णनों द्वारा वे चेष्टापूर्वक उनका निर्माण करते हैं और उसके विषय निश्चित हो जाते हैं। फल यह होता है कि उनकी कहानियों के दो अर्थ नहीं लग सकते और वर्णनों के

विस्तार के कारण अनेक बार कहानियों में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा हुई है।

प्रेमचंद की कहानियों में भावुकता और रोमांस का अधिक स्थान नहीं। वे हमारे सामने जीवन का ठोस सत्य रखते हैं, जिसमें उत्तेजना और अवास्तविकता नहीं होती। यही कारण है कि भावुक पाठक उनकी कहानियों से शीघ्र ही उकता जाते हैं और उनमें एकरसता का अनुभव करने लगते हैं। एक दृष्टि से यही बात प्रेमचंद की कहानियों की विशेषता है। उनकी कहानियाँ शक्तिशाली हैं। वे उसी किसान की तरह धरती की उपज मालूम होती हैं जिसका चित्रण प्रेमचन्द ने अनेक प्रकार से किया है। यदि हम शरत्चन्द्र और रवीन्द्रनाथ की रचनाओं को उनके सामने रखें तो हमें इन तीनों महान् लेखकों की रचनाओं का अंतर स्पष्ट हो जायगा। हमें शरत्चन्द्र की रचना में ऊँचे दरजे के मनोविज्ञान के साथ ऊँचे दरजे की भावुकता मिलेगी। हमें रवीन्द्रनाथ की रचनाओं में मनोविज्ञान, काव्यकला और दर्शन शास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन मिलेगा। प्रेमचन्द ने साधारण मनुष्य के प्रतिदिन के जीवन में मनोविज्ञान की स्थापना की है और वे न भावुकता के चक्कर में पड़े, न सूक्ष्म दार्शनिकता के विवेचन में। उन्होंने हमें पृथ्वी की वस्तुयें दी हैं, आकाश में वे कम उड़े हैं।

परंतु यह बात नहीं है कि प्रेमचन्द की कहानियों में जहाँ-तहाँ रोमांस की झलक न हो। वे आदर्शवादी लेखक हैं और यथार्थ जीवन की अनेक परिस्थितियों में से वे अपने लिये कुछ ऐसी परिस्थितियाँ चुन लेते हैं जो विशेष महत्त्वपूर्ण होती हैं। इस प्रकार जीवन का जो चित्र वे उपस्थित करते हैं वह यथार्थ जीवन से दूर जा पड़ता है और उसमें अवास्तविकता आ जाती है। इसके सिवा

उनकी कहानियों में यथार्थ जीवन और सुधारवादी दृष्टिकोण के मेल ने नई बात पैदा कर दी है। उन्होंने यथार्थ और रोमांस की सीमाओं को मिला दिया है। उन्होंने कुछ पूर्णत: रोमांचक कहानियाँ भी लिखी हैं, परन्तु वे सब कहानियाँ मनोविज्ञान पर आश्रित हैं। प्रेमचंद की रोमांस-कहानियों की यह विशेषता है कि हमें वहाँ भी यथार्थ जीवन, मनोविज्ञान और सचाई के दर्शन होते हैं। हम इस तरह भी कह सकते हैं कि उन्होंने जीवन की सच्ची और यथार्थ घटनाओं में रोमांस की प्रतिष्ठा की है।

प्रेमचंद की कहानियों में हम चाहे कला की दृष्टि से कुछ दोष भी पायें परंतु उनकी सब से बड़ी विशेषता जो हमें उनकी ओर आकर्षित करती है उनका सीधा संबंध लेखक के व्यक्तित्व से है। पहली बात तो यह है कि उनमें साधारण से साधारण घटना को आकर्षक बना देने की शक्ति है। उनकी कहानियों में कहीं मानसिक संघर्ष है, कहीं काव्यमयता है और कहीं मनोवैज्ञानिक ऊँचाई। यदि हम कला की बात छोड़ दें तो प्रेमचंद से अच्छा कहानी कहने वाला हमारे साहित्य में दूसरा नहीं मिलेगा। कहानी कहने का ढङ्ग ऐसा प्रभावशैली, प्रवाहमय और शक्तिशाली है कि उनकी प्रत्येक दुर्बलता छिप जाती है। इसके सिवा उनकी अपनी वर्णन-शैली है। प्रेमचंद की वर्णन-शैली बहुत स्वाभाविक है। वे प्रत्येक वस्तु और घटना का वर्णन बहुत सरल, आकर्षक और प्रभावशाली ढंग से करते हैं। जहाँ पाठक एक ओर कहानी की घटनाओं और पात्रों में आनंद लेता है, वहाँ दूसरी ओर वह उनकी भाषा के प्रवाह में भी बह जाता है। प्रेमचंद भाषा के बादशाह हैं। वे हिन्दी और फ़ारसी के शब्दों और मुहावरों का बहुत सुन्दर मेल बैठाते हैं। उनकी कहानी में प्रत्येक चार-पाँच वाक्यों के बाद हमें उपमाओं और

रूपकों के दर्शन होंगे। अलङ्कारों की अधिकता और उनका उचित प्रयोग उनके वर्णन को आकर्षक बना देता है। वे प्रत्येक शब्द को चुनकर रखते हैं और ऐसा जान पड़ता है कि उस शब्द का अधिक उपयुक्त प्रयोग हो ही नहीं सकता।

प्रेमचंद की कहानियों में हम गम्भीरता के साथ-साथ हास्य का भी अच्छा पुट पाते हैं। वे स्वयम् हास्य-प्रिय व्यक्ति थे और उनकी कहानियों पर इस परिहास-प्रियता का प्रभाव पड़ा है। वे जो कुछ कहते हैं, खुलकर कहते हैं और वे जो कुछ लिखते हैं पाठक के हृदय में सीधा उतर आता है। यदि प्रेमचंद की भाषा के सबसे सुन्दर प्रयोग ढूँढ़ने हैं तो हमें ऐसे स्थानों पर खोज करनी होगी जहाँ उन्होंने प्राकृतिक चित्र दिये हैं अथवा जहाँ उन्होंने नैतिक सत्य का प्रतिपादन किया है। अपने कथानक में यहाँ-वहाँ प्रेमचंद ने सुन्दर कहावतों और नैतिक अथवा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के ऐसे-ऐसे छोटे हीरे के टुकड़े जड़ दिये हैं जो नीले आकाश में चमकते हुए छोटे-छोटे तारों की तरह जान पड़ते हैं।

प्रेमचंद की कहानियों के, उनकी कला के विकास-रूप और विषय-विभाग के अनुसार, कितने ही भेद किये जा सकते हैं। विकास-रूप के हिसाब से उनकी कहानियाँ ३ वर्गों में बँटेंगी।

(१) प्रारम्भ की उन कहानियों में जिनमें घटनाचक्र और आकस्मिकता की प्रधानता है, कोई मूल-विचार लेखक आगे नहीं बढ़ता। प्लाट ही सब कुछ है, विचार (बीज) और चरित्र-चित्रण गौण। इन कहानियों में बुरे का फल बुरा है, भले का भला। पलड़ा सदा बराबर रहता है। यह स्पष्ट है कि यह वास्तविकता नहीं है।

( २ ) ( अ ) चरित्र-प्रधान और आदर्श-प्रधान कहानियाँ—वास्तव में पूर्णतः चरित्र-प्रधान कहानियाँ प्रेमचंद ने अधिक नहीं

लिखी हैं। वे कला में उपयोगिता का विकास आवश्यक समझते थे। इन कहानियों में बहुधा आदर्श चरित्र-चित्रण को ढक लेता है। इन कहानियों के शीर्षकों से ही उनके विषय का पता लग जायगा, जैसे "माता का हृदय," "स्वर्ग की देवी"।

( आ ) विचार-प्रधान और चरित्र-मूलक आदर्शात्मक (सुधारात्मक) भावनामंडित कहानियाँ—लेखक समाज की कुरीतियों को लेता है और कर्मवाद, करुणा, मनुष्यता आदि का सहारा लेकर उनका परिहार करता है, जैसे 'स्त्री और पुरुष' 'दिवाला' 'नैराश्य' 'लीला' 'उद्धार'। प्रेमचन्द की सुधारात्मक भावना सहारे के लिए अतीत की ओर देखती है, पश्चिम से हटती है। (देखिये 'शांति')

( इ ) घटनामंडित कहानियाँ जिनमें ऊपर की प्रवृत्तियों के होते हुए भी घटनाचक्र की प्रधानता है, जैसे "शूद्र", "आधार", "निर्वाण", "कौशल"।

( ई ) चरित्रप्रधान और संघर्ष ( अंतर्द्वन्द ) प्रधान कहानियाँ—ऐसी कहानियाँ कम हैं जैसे "दुर्गा का मंदिर", "डिक्री के रुपये", "ईदगाह", "माँ", "घर जमाई", "नरक का मार्ग"। इन कहानियों में प्रेमचंद बराबर आदर्श यथार्थ की ओर बढ़े चले जा रहे हैं। फिर भी कहानियाँ सुखांत हैं, केवल कुछ को छोड़कर; (उदाहरण के लिये 'शांति' जिसमें विवाह की विडंबना का चित्रण है)।

(उ) ऐसी कहानियाँ जिनमें चरित्र-चित्रण के साथ प्रभावात्मकता पर ध्यान रखा गया है और कहानी को अत्यन्त कलात्मक रूप देने की चेष्टा की गई है। प्लाट कम है या है ही नहीं। फिर भी प्रेमचंद न आत्महत्या को छोड़ पाते हैं, न सुधारभावना को, जैसे "घासवाली," "धिक्कार," "कायर", "पूस की रात"।

( ३ ) इन्हीं कहानियों का विकसित रूप वे कहानियाँ हैं जो

"कफ़न और अन्य कहानियाँ" नाम के अंतिम संग्रह में संग्रहीत हैं। इनमें लेखक आदर्शवादियों की पंक्ति से निकलकर वस्तुवादियों की पंक्ति में जा बैठा है। "कला उपयोगी हो" यह विचार दूर हो गया है, परन्तु कहानी समाज के मर्मस्थल पर नग्न-चित्रण के कारण हीं चोट करती है।

यह तो हुआ मूल भावनाओं के हिसाब में श्रेणी-विभाजन। वैसे प्रेमचंद की कहानियाँ समाज और राजनीति के आन्दोलनों को भी चित्रित करती हैं या उनका प्रभाव दिखलाती हैं और इस दृष्टि से भी उनका श्रेणी-विभाजन संभव है।

१६

# उपसंहार

हिन्दी उपन्यास आधुनिक साहित्य के अंतर्गत आता है। १६ वीं शताब्दी तक इस नाम की कोई चीज़ हमारे यहाँ नहीं थी। संस्कृत साहित्य में "आख्यान" और "उपाख्यान" थे—'कादम्बरी' उनका एक उदाहरण है, परन्तु चरित्र-प्रधान कहानी एक भी नहीं थी। हिन्दी साहित्य के कथाकाव्यों से हम परिचित हैं—सूफ़ी संतों और अन्य कितने ही कवियों ने आख्यानक काव्य लिखे हैं, परन्तु उनमें कल्पना और काव्य का पुट अधिक है। कथा-विकास और चरित्र-चित्रण की भूमि इतनी ऊँची नहीं, जितनी उपन्यास में होनी चाहिए। ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर राजपूत भाटों और चारणों ने 'बातें' और 'ख्यातें' लिखीं हैं परन्तु उनमें भी आश्चर्यमय घटनाओं और देवत्व की प्रधानता है।

उन्नीसवीं शताब्दी में गद्य में मनोरंजक कथा लिखने का पहला प्रयास हुआ। कथाएं छोटी थीं। आकार में कहानी प्रकार में उपन्यास—इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' और सदलमिश्र का "नासिकेतोपाख्यान" इसी प्रकार की कथाएँ हैं। यह खड़ी बोली गद्य का शैशवकाल था। उसमें अभी साहित्यिक-सौन्दर्य प्रस्फुटित नहीं हुआ था, कहानी में "कौतूहल" के तत्त्व

विकसित नहीं हुए थे। इन कथाओं में रोमांच, नीति का समर्थन और धार्मिकता का पुट ही अधिक था। सं० १९१५ में 'राजाभोज का सपना' ( राजा शिवप्रसाद ) और 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' ( भारतेन्दु ) लिखे गये। परन्तु इस प्रकार के प्रयत्न आधुनिक उपन्यास से कोई महत्वपूर्ण शृङ्खला नहीं जोड़ते।

सबसे पहला उपन्यास सं० १९४३ में लिखा गया। यह श्रीनिवासदास का 'परीक्षा-गुरु' है। इसके शीर्षक नीति-तत्त्वों के समर्थन में उद्धृत अंग्रेजी हिन्दी कविता के रूप में हैं, कथोपकथन में भी अंग्रेज़ी पुट है। परंतु कथा अपने ही समय के समाज की है और उसमें आदर्शवाद नहीं यथार्थवाद के ही दर्शन होते हैं—एक अमीर का लड़का कुसंगति से किस प्रकार बिगड़ जाता है। इसके बाद कितने ही उपन्यास लिखे गये—सौ अजान एक सुजान ( बालकृष्णभट्ट ), भाग्यवती ( श्रद्धाराम फुल्लौरी ), वङ्गविजेता ( गजाधरप्रसाद शर्मा ), स्वर्णलता ( राधाकृष्णदास ), विरजा (राधाचरण गोस्वामी), इला ( कार्तिकप्रसाद खत्री ), दीपनिर्वाण ( उदितनारायणलाल )। इनमें हरिश्चंद्री हिंदी के विकास के कारण भाषा में संगठन और सौंदर्य तो दिखलाई पड़ता है परन्तु कथा-विन्यास नीचे दरजे का है; किन्तु कौतूहल पूर्ण है—साथ ही समाज और नीति के प्रसङ्ग भी जोड़ दिये गये हैं। आरम्भ के कुछ उपन्यासों के बाद बँगला उपन्यासों के अनुवाद होने आरम्भ हुए, फिर मराठी उपन्यास सामने आये, इसके बाद अंग्रेज़ी उपन्यासों की ओर ध्यान गया। प्रेमचंद के समय तक अंग्रेज़ी उपन्यासों के प्रचुर अनुवाद नहीं निकले थे। परंतु प्रेमचंद अंग्रेज़ी जानते थे, अतः उनका अंग्रेज़ी उपन्यास साहित्य से सीधा परिचय था। उर्दू के तो वे उपन्यासकार थे ही और सारे उपन्यासों को चाटे बैठे थे।

प्रेमचंद से पहले के हिंदी उपन्यासों में तीन धाराएँ बह रही थीं जो क्रमशः इस प्रकार आईं—( १ ) देवकीनंदन के उपन्यास चंद्रकांता के साथ ऐयारी और तिलिस्मी उपन्यास, ( २ ) किशोरीलाल गोस्वामी के साथ सामाजिक उपन्यास और ऐतिहासिक एवं सामाजिक प्रेम-रोमांच और ( ३ ) गोपालराम गमहरी के साथ जासूसी, पुलिस और साहसिक उपन्यास। ये तीनों धाराएँ प्रेमचंद के समय ( १९१६ ) तक साथ-साथ चलती रहीं और जब प्रेमचंद ने हिंदी उपन्यास-क्षेत्र में सेवासदन के साथ पदार्पण किया तो वे वास्तव में किशोरीलाल गोस्वामी के ही क्षेत्र में उतर रहे थे।

चंद्रकांता का संसार रोमांस का संसार है। उसमें चरित्र-चित्रण नहीं; भावों का घात-प्रतिघात नहीं, मनोविकारों का विश्लेषण नहीं, पात्रों में व्यक्तित्व नहीं। केवल कथामात्र है—कुतूहल-प्रधान, मनोरंजक, कि किताब हाथ में ली कि खाना-पीना गया। प्रेमचंद ने अपने छुटपन में उन सब तिलिस्मी और ऐयारी उपन्यासों से परिचय प्राप्त कर लिया था जो हिंदी के इन उपन्यासों के उत्तेजक थे। इन उपन्यासों का प्रभाव उर्दू के मौलिक माध्यम से उनकी रचनाओं पर पड़ा है। परंतु खत्रीजी की रचना-शक्ति और कल्पना एवं वर्णनशक्ति अद्वितीय थी और उनके कारण बनारस शीघ्र ही उपन्यास-लेखन का केंद्र हो गया। "परीक्षागुरु" की कोई परम्परा चली नहीं। इन उपन्यास-महारथियों के कल्पना-चक्र और जादू लेखनी ने उसे ढक दिया।

इन मौलिक रचनाओं के साथ-साथ बँगला और मराठी के उपन्यास पहले से हिंदी में आ रहे थे। बंकिम कथा के कितने ही लेखकों के अनुवाद निकले। इनसे साहित्य में सुरुचि फैली, तब

प्रेमचंद आये और ठीक अवसर पर आये। तब तक हिंदी के पाठक भारत के सर्वश्रेष्ठ सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों से अनुवादों के द्वारा परिचित हो चुके थे।

प्रेमचंद हिंदी में "प्रेमा" (१६०६) के साथ उतरे। यही बाद में 'प्रतिज्ञा' नाम से परिष्कृत रूप में आई। क्षेत्र सामाजिक था। विधवा-विवाह। प्रेमचंद ने पहले समाज को ही अपना विषय बनाया और उनके लगभग सभी एकांततः सामाजिक उपन्यासों का मूल रूप (उर्दू में) इसी समय लिखा गया। वरदान, ग़बन और निर्मला—तीनों की कथावस्तु दूसरे रूप में उर्दू भाषा में लिखी जा चुकी हैं। हिंदी में यह चीज़ें बाद को आईं। 'प्रेमा' में यदि विधवा विवाह था, तो 'निर्मला' में दोहाजू के सङ्ग विवाह और दहेज़, 'ग़बन' में आभूषण-प्रियता और समाज में अपनी स्थिति बढ़चढ़ कर दिखाने की प्रवृत्ति। "प्रेमा" के प्रकाशन के साथ ही उन पर हिंदी के महारथी आलोचकों की बौछारें पड़ीं परन्तु जब दस वर्ष बाद प्रेमचंद सेवासदन के साथ आये, तो सब अपनाने दौड़े। 'सेवासदन' में वेश्याजीवन पर आक्षेप है और चौक से वेश्याओं को हटाने के लिये आंदोलन है। इसमें हमारे अपने घर के जितने सुंदर दृश्य हैं, हमारी कमज़ोरियों का जैसा चित्रण है, वैसा कहीं नहीं था। समाज का संयत यथार्थवर्णन और उच्च आदर्शवाद। वर्णनशैली तो 'प्रेमा' की भी अद्वितीय थी, परन्तु उसके प्रकाशन के समय लोग उसकी समस्या से ही उलझे रहे और उसकी ओर ध्यान न दिया। अब इस पर लट्टू हो गये।

'सेवासदन' की लोकप्रियता से प्रेमचन्द प्रभावित अवश्य हुये और उन्होंने अपना दूसरा उपन्यास हिंदी में ही लिखना निश्चित किया। 'प्रेमाश्रम' सामने आया। उसमें राष्ट्रीय जीवन के बड़े

क्षेत्र की ओर लेखक ने पहला क़दम उठाया। असहयोग आन्दोलन (१६२१) ने राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न की थी, प्रेमचन्द उससे प्रभावित थे, इसीसे उन्होंने नया क्षेत्र ग्रहण किया। उनके पाठक भी यह सामयिक चीज़ पाकर मुग्ध हो गये। अब तक न हिंदी में कोई राजनैतिक उपन्यास था, न सामयिक घटनाओं की चर्चा ही कथा-साहित्य में रहती थी, इससे हम प्रेमचन्द की मौलिकता और उनके साहस को समझ सकते हैं। इसके बाद उन्होंने कायाकल्प, रंगभूमि, कर्मभूमि और गोदान में हमारी राजनैतिक, सामाजिक, औद्योगिक एवं सुधारवादी सभी समस्याओं को अनेक पहलुओं से देखा। "रंगभूमि" उनका सबसे विशद उपन्यास है—इसका जैसा व्यापक क्षेत्र किसी अन्य उपन्यास का नहीं है। समस्या है औद्योगीकरण। 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' दोनों पर १६३०-३२ के आन्दोलनों का प्रभाव है। 'कर्मभूमि' में नगर की समस्याएँ भी हैं। परंतु इन सब उपन्यासों में जो एक चीज़ हमें बराबर मिलती है वह है भारतीय गाँव। प्रेमचंद ने जब प्रेमाश्रम में गाँव को अपनाया तो अंत तक उसे निबाहते रहे और गाँव के दुखों के कारण में और उसके निवारण के उपायों में बराबर गहरे-गहरे बैठते गये। गोदान (१६३६) गाँव की महाकथा (Sagav) है। उनका कथाक्षेत्र व्यक्ति, परिवार, समाज, ग्राम, नगर, राष्ट्र—धीरे-धीरे इन सब को समेट कर महाकाय धारण करता गया है।

परंतु समस्याएँ ही प्रेमचंद के उपन्यासों की सब कुछ नहीं है। यदि वे समस्यामूलक उपन्यास ही लिखते तो बात दूसरी थी—उनके उपन्यास समस्यामूलक नहीं हैं, यह कोई भी कह सकेगा। तब उनकी विशेषता क्या है—व्यक्ति और समूह का मनोविज्ञान, उत्कृष्ट काव्यरस, सर्वोच्च नैतिक सिद्धान्त, जीवन की

यथार्थता के ऊपर खड़ा आदर्शों का ताजमहल। प्रेमचन्द अपने जीवन में बराबर प्रगतिशील रहे, मन खुला रहा, आँखें सतर्क रहीं, लेखनी उन्मुक्त रही। उन्होंने जीवन के सब कोने झाँके। उन्होंने अपने जीवन, अपने व्यक्तित्व और अपने अनुभवों का सारा रस हिंदी में उंडेल दिया। आज वे अमर हैं।

लोगों को शिकायत है, प्रेमचन्द में कथा रस उतना नहीं जितना शरत् में, लोगों को शिकायत है प्रेमचन्द रवीन्द्रनाथ जैसे मनोवैज्ञानिक नहीं, लोगों को शिकायत है प्रेमचन्द समय से ऊपर नहीं उठ सके। उन्होंने अपने युग की समस्याओं को पाठकों के सामने रख दिया और स्वयं अलग हो गये। कोई उन्हें कम यथार्थवादी कहता है, कोई उन्हें कम आदर्शवादी बतलाता है। अभी हम प्रेमचंद की सामग्री को आँक ही कहाँ सके हैं? अभी हमने उतनी वैज्ञानिक समीक्षा ही कहाँ की है? अभी हमें उन्हें समझना है? उनमें यह नहीं, उनमें वह नहीं, फिर भी उनमें बहुत कुछ था और जो है उसके आगे हमें नत-मस्तक होना पड़ेगा। तुलसीदास के बाद हिंदी साहित्य-क्षेत्र में इतनी विशद, महान और उन्नत आत्मा नहीं आई है।

किसी भी साहित्यिक का महत्व उस समय कई गुना बढ़ जाता है जब वह अपनी संस्कृति और अपनी जाति के आदर्शों का अपनी रचनाओं में समावेश करता है, जब तक कि वह विश्व-जनीन भावनाओं की उपेक्षा न करे। परंपरागत आये हुए राष्ट्र के आदर्शों को मानवीय भावनाओं के विकास से ओत-प्रोत होना चाहिये। 'प्रसाद' और 'प्रेमचंद' ऐसे ही आधुनिक हैं जिन्होंने अपनी प्राचीन संस्कृति की ओर ध्यान दिया है। अपनी संस्कृति के पन्नों को उलट कर उन्होंने उन पर आधुनिकता का सुंदरतम विश्वास छोड़ा है। प्रेमचंद ने अपनी समसामयिक भावनाओं

का अत्यन्त स्पष्ट चित्र हमारे सामने रखा है। भाषा-सौंदर्य और कुतुहल-वर्द्धन-मात्र के लिए उन्होंने किसी कहानी या उपन्यास की रचना नहीं की। उन्होंने अपनी रचनाओं में राष्ट्र के सामने जो संदेश रक्खा वह प्राचीन सभ्यता की सुंदरतम आकांक्षाओं और भावनाओं को आश्लेष करता है। महान संघर्ष के बाद शांति, देह का नाश परंतु आत्मा का अभिषेक—इनके लिए पात्रों को कितना संघर्ष करना पड़ा है। सद् प्रवृत्तियों की पराजय कहीं भी नहीं। प्रकाश चाहे क्षण भर अंधकार से ढक जाय, परंतु अंत में उसकी जय निश्चित है। इसी आदर्शवाद के कारण परिष्करण या सुधार का भाव भी सर्वत्र विद्यमान है।

प्रेमचन्द समय के साथ चलने वाले आदमी थे—कुछ अंशों में तो वे समय को रास्ता दिखाने वाली मशाल थे, सच्चाई थे। उन्होंने प्रथम बार जनता के मूक विचारों और उसकी भावनाओं को वाणी दी है। उन्होंने जनता की माँग को बड़ी उत्तेजना के साथ सामने रखा है। वे किसानों-मज़दूरों की भावनाओं को उनकी समस्त नैसर्गिक शक्ति के साथ सामने लाये हैं।

परन्तु जहाँ उनके उपन्यासों की समस्याएँ राष्ट्रनिष्ठ अथवा वर्गनिष्ट हैं, वहाँ वे पात्रों की सजीवता और वैयक्तिकता को हाथ से नहीं जाने देते। वे मनोविज्ञान के पंडित हैं। परिस्थितियाँ और वर्गगत उलझनें पात्रों को आगे बढ़ाती और कथा को निर्दिष्ट दिशा में ले जाती हैं तो व्यक्ति ( पात्र ) की दुर्बलताएँ और उनकी मौलिक प्रवृत्तियाँ भी इन क्षेत्रों में कम काम नहीं करतीं। इसीसे प्रेमचंद सुधारक-उपन्यासकार की श्रेणी में नहीं आते। उन्होंने व्यक्ति के मनोविज्ञान, कला और कथा को सुधारवाद के नीचे नहीं दबने दिया। उनका संसार का अनुभव

और उनकी व्यक्तित्व की पहचान इतनी बढ़ी-चढ़ी है कि उनके पात्रों में बहुत कम ऐसे निकलेंगे जो लगभग एक-से हैं। इतना स्वभाव भेद किसी अन्य हिंदी उपन्यासकार के बस की बात नहीं।

आज वे नहीं हैं। सुनते हैं उनका युग समाप्त हो गया। पर-राष्ट्रनीति और राजनीति कहीं से कहीं आ गई हैं। नई रोशनी में प्रेमचंद के बताए हुए समस्याओं के कितने हल फीके पड़ गए हैं, परंतु समस्याएँ अब भी वही हैं। उन्हें ढूँढ़ने के लिए हमें प्रेमचंद को छोड़ कर कहीं नहीं जाना पड़ेगा—वही गुलामी, वही गाँवों की तबाही, वही वर्गसंघर्ष! प्रेमचंद गांधी-युग के कलाकार थे, उनकी समस्याओं का हल समझौते में या ग़रीब की मौत में होता था-। दूसरा कोई चारा नहीं था। परंतु प्रेमचंद को यह गांधीजी से नहीं सीखना पड़ा, उनके कुटिल अनुभवों ने उन्हें वह सीमाएँ बतला दी थीं, जहाँ तक उनके पात्र स्वतंत्रता-पूर्वक जा सकते थे। इस सीमा के आगे समझौता था या आत्मघात! नए साहित्य में समाजवाद का बोल-बाला है। परंतु अभी इस साहित्य ने प्रेमचंद द्वारा उपस्थित की हुई (और अब भी बनी हुई) परिस्थितियों को समाजवादी दृष्टिकोण से नहीं परखा है। जब वह परखेगा, तो किसी को प्रेमचंद के प्रगतिशील होने में संदेह नहीं रहेगा!

## पुनश्च

१

अभी कुछ दिन हुए, 'कथाकार प्रेमचन्द' नाम से प्रेमचन्द के जीवन और उनकी साहित्य-समीक्षा को लेकर ७५० पृष्ठों का एक वृहद् ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। लेखक हैं श्री मन्मथनाथ गुप्त और श्री रमेन्द्रनाथ वर्मा। इस वृहद् ग्रंथ में लेखकों ने 'प्रेमचन्द: एक अध्ययन' की सामग्री का उपयोग किया है और जहाँ मतैक्य या मतभेद हैं, वहाँ अपने विचार भी प्रगट किये हैं। इस नये संस्करण में उन सब प्रसङ्गों की विस्तृत विवेचना आवश्यक हो जाती है।

जहाँ तक प्रारम्भिक उपन्यासों और प्रेमचन्द के कलाविकास एवं उनकी प्रगतिशीलता का सम्बन्ध है, 'कथाकार प्रेमचन्द' के लेखक प्रेमचन्द से आश्वस्त जान पड़ते हैं, परन्तु उनकी विचारों की भूमि समाजवादी होने के कारण उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती आलोचकों की कटु समीक्षा की है और उन्हें रूढ़िवादी और अवैज्ञानिक बताया है। जहाँ तक 'एक अध्ययन' के लेखक का सम्बन्ध है, वरदान और प्रेमा (प्रतिज्ञा) के बारे में कोई बड़ा मतभेद नहीं है, परन्तु सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, ग़बन और गोदान के सम्बन्ध में भी

मतभेद नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। हम इन उपन्यासों को अलग-अलग लेंगे—

सेवासदन

'श्री रामरतन भटनागर इसलिए प्रेमचन्द पर बहुत गरम हुए हैं कि सेवासदन में वेश्या-समस्या का कोई हल नहीं है। वे कहते हैं—सुमन समाज में स्वीकृत नहीं हो सकी है, पद्मसिंह अब भी उससे बचे-बचे रहते हैं, शांता और सदन का परिश्रम समस्या का कोई हल उपस्थित नहीं करता। यदि दो-चार उत्साही युवक वेश्याओं से विवाह भी कर लें तो भी परिस्थिति का अंत नहीं हो जाता। प्रस्ताव तो समस्या को और भी पीछे छोड़ देता है। जब वेश्याएँ रहेंगी ही, तो बात क्या हुई? स्पष्ट है कि प्रेमचन्द समस्या के आर्थिक या मनोवैज्ञानिक पहलू के भीतर नहीं घुसते। वे मध्यवर्ग की सुधारवादी प्रकृति से आगे नहीं बढ़ते।' इस पर लिखते हुए वे कहते हैं—'क्या उपन्यासकार का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक समस्या का एक हल पेश कर दे? फिर हल पेश करने के तरीके भी तो हो सकते हैं। यदि उपन्यासकार यह दिखा दे कि किन कारणों से समस्या का रूप यों है, इसके पीछे कौन-से आर्थिक-मनोवैज्ञानिक कारण हैं, दूसरे शब्दों में वह यदि रोग का निदान कर दे, और रोग-मुक्ति किस दशा में हो सकती है, इसका इशारा कर दे, तो क्या हम यह न समझेंगे कि उसने अपना कर्तव्य पूरा कर लिया? दार्शनिक-सामाजिक निबन्धकार तो हल पेश करते ही रहते हैं, कलाकार क्या उसी प्रकार से प्रत्येक समस्या का हल पेश करेगा, या उसके हल में और दूसरों के पेश किए हुए हल में कुछ फर्क होगा? यदि हाँ, तो वह फ़र्क क्या है? इस बात पर यदि हम विचार करें तो देखेंगे कि कलाकार को हल इस रूप

में पेश करना पड़ेगा कि हल तो आ जाय, किन्तु यह जरूरी नहीं कि वह दूसरों की तरह लट्ठमार तरीके से आवे। सच तो यह है कि हल जितने ही सूक्ष्म तरीके से आवेगा, (अवश्य सूक्ष्मता का अर्थ यह नहीं है कि इन भुल पकीरी हो, या हल ही लुप्त हो जाय) उतना ही कला का परिपाक अच्छा होगा। यों तो प्रत्यक्ष हल देने के लिए Party Literature या दल का साहित्य काफ़ी है, फिर Balles Letters या सुकुमार साहित्य की आवश्यकता क्या है?' तर्क के लिए तो यह विचार-धारा ठीक है परन्तु इससे कुछ आता जाता नहीं। सच तो यह है कि हम यह आशा कलाकार से नहीं करते कि वह प्रत्येक समस्या का कोई हल भी हमें दे, परन्तु या तो वह समस्या या परिस्थिति का वस्तुवादी चित्रण उपस्थित करके हट जाये, या उसका जो हल उपस्थित करे, वह कमजोर और सत्य ही न हो। वास्तव में तटस्थ रहकर किसी भी समस्या का चित्रण करना असम्भव है और यदि कलाकार को समस्या का ठीक-ठीक निदान मालूम है, तो समस्या के विभिन्न अंगों पर उसका बल (Emphasis) भी ग़लत न होगा। नहीं तो वह अपनी बनाई विशाल मरुभूमि में घूमता-भटकता फिरेगा।

इसी दृष्टि से हमने 'सेवासदन' के सम्बन्ध में अपना मंतव्य उपस्थित किया। 'सेवासदन', 'यामा' और 'दिल्ली का दलाल' उपन्यासों की तुलना करने से हमारी बात साफ़ समझ में आ जायेगी। 'सेवासदन' के लेखक का मंतव्य यह जान पड़ता है कि हमारे समाज में वेश्यावृत्ति का बीज हिन्दू नारी की हीन सामाजिक अवस्था है। वह एकदम पति पर आश्रित है और जहाँ यह आश्रय किसी भी तरह छूट जाता है, वहाँ वेश्यालय सजाने के सिवा उसके पास और कोई साधन

ही नहीं रह जाता। समाज के नेता चाहे कहें जो, वे कर्म में पीछे ही रह जाता है। 'कोनो वांक?' (किसका अपराध) उपन्यास में कन्हैयालाल मुंशी ने भी यही प्रश्न उठाया है, परन्तु उनके उपन्यास में यह पति-पत्नी की ही समस्या नहीं है, यह हिंदू पुरुष समाज की नारी संबन्धी लोलुपता और सदाचार हीनता के कारण और भी भयावह है। हिन्दू समाज की विधवा नारी जिस लांछना और 'छिः-छिः' में घिरी हुई नरक की घोर यातनाएँ पा रही है, उसके लिए कौन उत्तरदायी है? शताब्दियों के जड़ता-जड़े समाज में नारी की देह को लेकर जो व्यवसाय चल रहा है, उसे कौन नहीं जानता? नर के न रहने पर क्या नारी का इस समाज में कोई स्थान है? 'मणि' की विपदा यह प्रश्न उभारती है। समाज के प्रत्येक वर्ग में उसे नरपिशाचों के दर्शन हुए। सगे-कुटुम्बी, संत-महात्मा, सुधारक-विचारक, सेठ-साहूकार सबके लिए नारी भोग्या-मात्र है। उपन्यास को समाप्त करते-करते पाठक पूछ उठता है—किसका अपराध, मणि का या समाज का? प्रेमचन्द के 'सेवासदन' का अन्त वनिताश्रम में हुआ है। पथभ्रष्ट नारी के लिए यही एक स्थान है, परन्तु 'दिल्ली का दलाल' में यही वनिताश्रम व्यभिचार के अड्डे बन गये हैं। वस्तुस्थिति कुछ ऐसी ही है। कन्हैयालाल मुंशी ने एक क्रांतिचेता युवक मुचकंद की कल्पना की जो पथभ्रष्ट 'मणि' को आश्रय देता है। परन्तु मुचकन्द जैसे युवक अभी समाज में कितने मिलेंगे? प्रस्तावना में मुंशी लिखते हैं—'इतना तो विश्वास है कि जब तक स्त्रियों की दीनता और उनके दुःख पर इस दुनिया के स्तम्भ का निर्माण होता है, जब तक विवाह के प्रश्न पर हम लोग स्वाभाविक दृष्टि से देखना नहीं सीखते, तब तक आत्मविकास की बलि देकर, रूढ़ि-प्रतिष्ठा में मनुष्यता

की हत्या करने पर हम तुले हुए हैं और जब तक हृदय के विशुद्ध और नैसर्गिक भावों के विकास का अवसर देने के बजाय उनको कुचल डालने में ही समाज अपना गौरव समझता है—तब तक ऐसी वार्ताएँ समय-प्रतिकूल नहीं समझी जायेंगी।' 'यामा' में वेश्या जीवन के मनोवैज्ञानिक और वस्तुवादी पहलू पर ही अधिक बल दिया गया है। वेश्याजीवन की निःसारता, उसकी ऊब, उसकी आशाकांक्षा सभी उसमें है, परन्तु यह तो निश्चित है कि केवल यौन-मनोविज्ञान और काम-विकारों के आधार पर हम वेश्याजीवन की व्याख्या नहीं कर सकते। स्त्री की आर्थिक-हीनता और पुरुषप्रधान समाज की निरंकुशता ही नारी के इस पतन का कारण है। तीनों ही उपन्यास नारी जीवन के इस पहलू को ओट कर देते हैं। वैसे कथा-प्रसंग में इस विषय के इंगित अवश्य आते हैं, नहीं आते ऐसा असम्भव था, परन्तु उन्हें तीव्रता नहीं मिल सकी है। स्त्री-पुरुष की सामाजिक, आर्थिक और वैवाहिक समानता ही नारीजीवन की सारी विडम्बनाओं का एकमात्र हल है, यह स्पष्ट रूप से कहीं भी नहीं कहा गया है। परन्तु इसके लिए हम प्रेमचन्द और अन्य उपन्यासकारों को लांछित नहीं कर सकते। समस्या को इस रूप में हमने उस समय देखा ही नहीं था। समाज-सुधार के जो आन्दोलन उस समय हो रहे थे उनमें हृदय-परिवर्तन पर ही अधिक बल था। प्रेमचन्द ने भी समस्या का यही हल समझा कि वे कुछ पात्रों का हृदय बदल दें और उनसे एक 'आश्रम' की व्यवस्था करा कर निश्चिंत हो जायें। इसमें उन्हें छोटा करने की कोई बात नहीं है। न जो हमने कहा है, वह उन्हें छोटा करने के लिए है।

'प्रेमाश्रम' के सम्बन्ध में लिखते हुए उन्होंने हमारे इस

प्रेमाश्रम

कथन का विरोध किया है—'प्रेमाश्रम हिंदी का ही नहीं, भारत का पहला राजनैतिक उपन्यास है, वे आनन्दमठ की बात उठाते हैं। आनन्दमठ की रचना कांग्रेस की स्थापना से पूर्व हो चुकी थी और उसमें आये हुए 'बन्देमातरम्' गीत के कारण ही उसे राजनैतिक उपन्यास मान लेने का कोई कारण दिखलाई नहीं पड़ता। आनन्दमठ में राजनैतिक चेतना न उतनी है, न उस प्रकार की है, जितनी और जिस प्रकार की 'प्रेमाश्रम' में है। भारतीय राजनैतिक संग्राम के अनेक पक्षों का चित्रण पहली बार यहीं हुआ है। 'गोरा' और 'घरे-बाहरे' में रवीन्द्रनाथ इस क्षेत्र में उतर चुके थे, परन्तु इन उपन्यासों में राजनैतिक चेतना सामाजिक द्वन्द और प्रेम-प्रसंग से दबी हुई थी। भारतीय गाँव की प्रतिदिन की परिस्थितियों का जैसा चित्रण 'प्रेमाश्रम' में बन पड़ा, वैसा उससे पहले था ही नहीं। इसी उपन्यास में पहली बार वर्ग चेतना के दर्शन हुए। 'आनन्द-मठ' को यह श्रेय देना स्वयं उस कृति के साथ अन्याय करना होगा।

कायाकल्प

'कायाकल्प' के सम्बन्ध में यह मतभेद सबसे बड़ा हो जाता है। जहाँ तक कथा से संगठन का सम्बन्ध है, 'कथाकार प्रेमचन्द' के लेखक इससे सहमत हैं कि 'कायाकल्प' की दो कथायें अत्यन्त निर्बल सूत्रों से जुड़ी हुई हैं। अतः उपन्यास का कथा-संगठन बहुत ही शिथिल और लचर है। परन्तु वे प्रेम रोमांच (या 'कायाकल्प') वाले कथांश के सम्बन्ध में हमारे मंतव्य के एकदम विरोधी हैं। हमारे कथन का उद्धृत अंश इस प्रकार है—'जन्म-जन्मांतर में प्रेम प्रसङ्ग के चित्रित करने में क्या तथ्य

है ? जान पड़ता है प्रेमचन्द स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को दो स्तरों पर रख कर देख रहे हैं। आध्यात्मिक स्तर पर रखकर वे देखते हैं कि प्रेम अलौकिक है, दिव्य है, मनुष्य को उसका आस्वाद अप्राप्य है। वासना की झाँई पड़ते ही प्रेम की मृत्यु हो जाती है। यह प्रेम का आदर्श बहुत ऊँचा है, दिव्य आदर्श है। हमारे सबके लिए तो सामाजिक और व्यावहारिक स्तर ही ठीक है, जहाँ स्त्री पुरुष के लिए विवाह के सूत्र में बँधकर जीवन पर्यंत और एक की मृत्यु के बाद दूसरे को इस 'मर्यादा' की रक्षा करनी पड़ती है। जन्म-जन्मांतरों की बात न हम जान सकते हैं, न जानना भला ही है। परन्तु विवाह तन का नहीं, मन का है।' इस पर विवेचना करते हुए श्री मन्मथनाथ गुप्त इस कथन को 'रहस्यवादी ढर्रे की बहक' कहते हैं। उनका मत है—'भटनागर जी ने वासना की झाँई वाली जो व्याख्या की है, वह बहुत मनोज्ञ होने पर भी तथा विद्वान समालोचक की काल्पनिकता की साक्षी होने पर भी तथ्य से कहीं दूर है।' समाजवादी आलोचक होने के नाते वे न आत्मा को स्वीकार करते हैं, न पुनर्जन्म को। जन्मांतरवाद की धारणा को ही वे प्रगति विरोधी समझते हैं। उनके अनुसार देवप्रिया वाले हिस्से में प्रेमचन्द पक्के प्रतिक्रियावादी तथा पुरुष-प्रधान समाज के पिट्ठू हैं। प्रेम की चिरन्तनता और जन्मांतरवाद उनके लिए भ्रम-मात्र है। परन्तु प्रेमचन्द भारतीय आदर्शवादी परंपरा से पूर्णरूपेण परिचित हैं। जिस समय वे 'कायाकल्प' (१९२८) लिख रहे थे, उस समय उन पर 'गोदान' (१९३६) के प्रेमचंद का आरोप नहीं किया जाना चाहिये। 'गोदान' के प्रेमचन्द धर्म, ईश्वर, जन्मांतरवाद और वर्ण परम्परा के प्रति शंकालु ही नहीं, विरोधी भी हैं। परन्तु 'कायाकल्प' के प्रेमचंद को 'गोदान'

के प्रेमचन्द तक पहुँचने के लिए कई मंजिलें पार करनी हैं। जो हो, यह निश्चित है कि हमें 'कायाकल्प' को उससे पूर्व की रचनाओं से जोड़ना पड़ेगा। इसी के अनुसार देवप्रिया वाले अंश की व्याख्या सम्भव है। हमने बतलाया है कि प्रेम, वासना, विवाह और यौन की अनेक समस्याओं से प्रेमचन्द स्वतः परिचित थे और उनके अधिकांश उपन्यासों में ये समस्यायें आई हैं। 'कायाकल्प' में अनेक जोड़े हैं; प्रेम, वासना और आत्मसमर्पण के अनेक प्रसङ्ग है। इन प्रसङ्गों को रखने में उपन्यासकार का क्या मंतव्य था? क्या वह प्रेम की व्याख्या करना चाहता था और इसी के लिए उसने एक अतीन्द्रिय प्रेम प्रसङ्ग की कल्पना की? जो हो, यह निश्चित है कि कायाकल्प के प्रेमचन्द समाजवादी नहीं हैं और चाहे जन्मांतरवाद और चिरन्तन प्रेम भ्रम हो—वे इन भ्रमों में पड़े हैं। इन भ्रमों से उद्धार पाने का मार्ग ही वे ढूँढ़ रहे हैं। आज चाहे हम इसे रहस्यवाद कहें या कुछ और ये मानव की कुछ चिरंतन समस्यायें हैं और प्रेमचन्द ने उन्हें इसी रूप में देखा है।

'कायाकल्प' को हमने 'गोदान' और 'रंगभूमि' के बाद प्रेमचन्द का सबसे उत्कृष्ट उपन्यास माना है और आज भी इस कथन में हम प्रेमचंद की कोई भी अप्रतिष्ठा नहीं समझते। इन तीनों उपन्यासों के तीन भिन्न-भिन्न क्षेत्र हैं, परन्तु भाषा-शैली की शक्ति, विषयों की व्यापकता और कथाओं की रोचकता एवं पात्र-निरूपण में वे अद्वितीय हैं। अन्य उपन्यास या तो इन्हीं उपन्यासों की प्रतिच्छाया हैं, जैसे कर्मभूमि स्पष्टतः रंगभूमि से प्रभावित है, या उनके क्षेत्र इनकी अपेक्षा अधिक सीमित है। हिंदी का कोई भी प्रेम-रोमांस 'कायाकल्प' की समता नहीं कर सकता। यह निश्चित है कि इस उपन्यास को लिखते समय

प्रेमचन्द कल्पना और कला की अत्यन्त उदात्त भूमि पर थे। हम यह मानते हैं कि 'कायाकल्प' में लौकिक और अलौकिक दो भिन्न-प्रकृति कथानकों को एक साथ रखकर प्रेमचंद जी ने पाठक के विश्वासों के प्रति खिलवाड़ की, परन्तु इससे उपन्यास छोटा नहीं हो जाता।

इस प्रकार की कुछ अन्य उक्तियाँ अन्य कृतियों की आलोचना के सम्बन्ध में भी हैं, परन्तु प्रत्येक साहित्यकार को उसकी विकास की भूमि पर रखकर देखना होगा। हम अपने समय की भावनाओं या अपने ज्ञान और विचार से पूर्ववर्ती रचनाओं को नहीं आँक सकते। ऐसा करेंगे तो रचना और रचनाकार दोनों के प्रति अन्याय करेंगे। 'कथाकार प्रेमचंद' में समाजवादी दृष्टिकोण से प्रेमचंद की अच्छी व्याख्या है, परन्तु लेखकों को यह ध्यान रखना चाहिये था कि प्रेमचंद समाजवाद से परिचित कब हुए और उनकी कितनी पूर्व-रचनायें अन्य 'वाद' या अन्य विचारों से प्रभावित हैं। सच तो यह है कि प्रेमचंद के साहित्य की व्याख्या न गाँधीवाद के माध्यम को हो सकती है, न समाजवाद के; उनका जीवन, उनकी परिस्थितियाँ, उनके साहित्यिक और राजनैतिक आदर्शों के प्रकाश में ही उनकी रचनाओं की ठीक-ठीक व्याख्या हो सकेगी। अभी हम प्रेमचंद के जीवन, उनकी परिस्थितियों और उनके मनोविज्ञान से पूर्णतः परिचित नहीं हैं और यह काम कम श्रम-साध्य भी नहीं है।

## पुनश्च

### २

यद्यपि प्रेमचंद ने अपने साहित्यिक जीवन को १६०३—४ के लगभग उर्दू मासिक-पत्र 'ज़माना' में स्केच और निबन्ध लिखकर आरम्भ किया—कुछ वर्ष पहले वे एक-दो उपन्यास भी लिख चुके थे—यह निश्चय है कि वे पूर्णतयः साहित्य में १६१६ ई० में 'सेवासदन' के प्रकाशन के साथ आये। इससे पहले का समय उनके लिए साहित्य क्षेत्र में उम्मेदवारी का समय था, वे लिखकर लिखना सीख रहे थे और गद्य के अनेक क्षेत्रों में प्रयोग कर रहे थे। १६१६ से लेकर अपनी मृत्यु के वर्ष १६३६ तक वे बराबर लिखते रहे। उर्दू के एक अज्ञात-से लेखक से उठकर वे अखिल-भारतीय कीर्ति के धनी कलाकार बने। मृत्यु के बाद उनकी रचनाओं का ताँता बँध गया, उनकी कहानियों और उपन्यासों की व्याख्या निरंतर लम्बी होती गई। उन्हें आर्थिक और दैहिक कष्टों के बीच से गुजरना पड़ा, इसी से वे कदाचित् समय के पहले ही चले गये, परन्तु उन्होंने अपने व्यक्तित्व की आग में तप कर कथालेखन की एक नई कला को गढ़ा। कलात्मक संयम, चरित्र-चित्रण, वर्णन-प्रवाह और काव्य-तत्त्वों की दृष्टि से वे अपने सम-

सामयिक लेखकों में सबसे अधिक चमके। राजनीति में जो 'गाँधी-युग' कहा जाता है, हिंदी कथा-साहित्य में वही 'प्रेमचंद युग' है।

१९१६ में प्रेमचन्द का पहला बड़ा सामाजिक उपन्यास 'सेवासदन' प्रकाशित हुआ। इसके बाद क्रमशः प्रेमाश्रम (१९२२), निर्मला (१९२३), रंगभूमि (१९२४), कायाकल्प (१९२८), ग़बन (१९३१), कर्मभूमि (१९३२) और गोदान (१९३६) सामने आये। उनका अंतिम उपन्यास 'मंगलसूत्र' अधूरा रह गया, और अभी अप्रकाशित ही है। उनकी छोटी कहानियों की संख्या ३०० से अधिक जाती है और रचनाक्रम के हिसाब से उन्हें उपस्थित करना बड़ा कठिन है। उनकी पहली कहानी—'संसार का सबसे अनमोल रत्न'—१९०० में ज़माना में प्रकाशित हुई। पहले कहानी संग्रह 'सोज़े वतन' (१९०९) से 'कफ़न और अन्य कहानियाँ' संग्रह (१९३९) तक प्रतिवर्ष हमें उनके द्वारा सामयिक जीवन और राजनैतिक हलचलों के बीसियों चित्र मिले। उनके साहित्य को समसामयिक भारतवर्ष का एक वृहद् 'अलबम' भी कहा जा सकता है। इन तीन सौ से अधिक कहानियों में जिस कला, जिस साहित्यिक कुशलता और जीवन की जिस पकड़ के दर्शन होते होते हैं, वह हमें आश्चर्य-चकित कर देती है।

प्रेमचन्द के पहले उपन्यास सेवासदन (१९१६) के प्रकाशन ने हिंदी कथा संसार में अभूतपूर्व क्रांति उपस्थित कर दी। हिंदी के पहले उपन्यास परीक्षागुरु (१८८६) से शुरू कीजिये, तो सेवासदन तक तीस वर्ष होते हैं। इन तीस वर्षों में सामाजिक, रोमांटिक, तिलिस्मी, ऐयारी और जासूसी उपन्यास सैकड़ों की संख्या में लिखे गए; और जनसाधारण में उपन्यास अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। परन्तु न इन उपन्यासों में साहित्यिकता

है, न कला के दर्शन होते हैं, न घर और समाज के जीवन का परिचय होता है। प्रेमचन्द ने रोमांसों की परम्परा में अपना नाम नहीं जोड़ा। उन्होंने सामाजिक और राजनैतिक तत्त्वों को लेकर उपन्यास गढ़े। रचनाक्रम की दृष्टि से उनकी सामाजिक रचनाएँ पहले आईं—इसका सर्वोत्तम विकास 'सेवासदन' (१९१६), प्रेमा (१९०१, ०४, ०६ जो 'हमखुरमा और हमसवाब' और प्रतिज्ञा नाम से परिवर्तित और परिवर्द्धित हुआ), वरदान (१९०४), सेवासदन (१९१६), निर्मला (१९२३) और ग़बन (१९३१) में हुआ—इन उपन्यासों में प्रेमचन्द किशोरीलाल गोस्वामी की भूमि पर चलते और उसे कई तरह विकसित करते दिखलाई देते हैं। बीसवीं शताब्दी के पहले दशकों में सामाजिक क्षेत्र में बड़ी रस्साकशी चल रही थी। एक ओर आर्य-समाज और प्रगतिशील हिंदू और दूसरी ओर रूढ़िवादी। प्रेमचन्द ने प्रगतिशील पक्ष को सबल बनाया। उनके सामाजिक उपन्यास सुधारवादी के उत्साह से भरे हुए हैं। उन्होंने हिन्दू कुटुम्ब, समाज, रीति-रिवाज और रूढ़ियों को नई परिस्थितियों के प्रकाश में रखा और नये-पुराने में समझौता करने की चेष्टा की। जो बुतशकन थे, उन्हें इन्होंने हिन्दोस्थान के महान सांस्कृतिकदाय की ओर इशारा किया और जो रूढ़िवादी है, उनके लिए वे चैलेन्ज बनकर आये। जहाँ तक किशोरीलाल गोस्वामी के सामाजिक उपन्यासों की कला का सम्बन्ध है, यह निश्चय है कि उनका यह पक्ष बड़ा निर्बल था। प्रेमचन्द ने अपने सामाजिक उपन्यासों में कला का समावेश किया और इस तरह वे गोस्वामी जी से बहुत आगे निकल गये। 'वरदान' और प्रतिज्ञा सामाजिक उपन्यास की अपेक्षा रोमांस ही अधिक है, यद्यपि उनकी पृष्ठभूमि में बीसवीं शताब्दी के पहले दो

दशकों का हिंदू सामाजिक जीवन चित्रित हो जाता है—प्लेग, बाढ़, गोशाला आन्दोलन, आर्य-समाजियों और रूढ़िवादी हिन्दुओं के शास्त्रार्थ, विधवा विवाह, दोहाजू की समस्या। ये कुछ महत्वपूर्ण समस्यायें थीं। सेवासदन (१९१६) ने पहली बार एक चुनौती हमारे सामने रखी। उसका विषय था सर्वकाल का नरक—वेश्या जीवन। इसी उपन्यास ने प्रेमचन्द को हिंदी उपन्यासकारों की अगली पंक्ति में स्थान दिला दिया और उनके लिए उज्ज्वल भविष्य निश्चित किया। चरित्र-चित्रण और परिस्थिति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस उपन्यास की सबसे बड़ी शक्ति है। इस उपन्यास में कई त्रुटियाँ भी थीं—सुधारवादी अतिशयोक्तियाँ, लंबे और जी उबाने वाले भाषण, अर्थहीन अवांतर प्रसङ्ग, परन्तु फिर भी यह उपन्यास भारतीय उपन्यासों में अद्वितीय था। 'निर्मला' में दोहाजू की समस्या पर प्रकाश डाला गया था। हिन्दू समाज में कभी एक पत्नी के रहते, कभी न रहते जो दूसरा विवाह कर लिया जाता है, उससे अनेक समस्यायें उठ खड़ी होती हैं। प्रेमचन्द का अन्तिम सामाजिक उपन्यास 'ग़बन' था। इसमें भारतीय स्त्री-समाज की आभूषण-प्रियता पर व्यंग था और मध्यवित्तों की सारी दुर्बलताओं को कला के द्वारा उभारा गया था। परन्तु इसे सामाजिक उपन्यास कहें भी क्यों—यह तो चरित्र प्रधान उपन्यास ही अधिक है। जालपा, रामनाथ, रतन और जोहरा इसके चार पात्र हैं। इन्हीं को घेर कर कथा चलती है। यहीं पहली बार प्रेमचन्द ने एक दुर्बल चरित्र पात्र को नायक बनाया है। रामनाथ प्रेमचन्द का पहला वस्तुवादी पात्र है। 'कर्मभूमि' के अमरकांत की वीथिका इसी ने तैयार की है।

परन्तु प्रेमचन्द की विशेषता यह है कि उन्होंने कथा में

राजनीति का समावेश किया और लोकप्रिय हलचलों को अपने उपन्यासों का आधार बनाया। प्रेमाश्रम (१६२२), रंगभूमि (१६२४), कर्मभूमि (१६३२), कायाकल्प (१६२८) और गोदान (१६३६) इसी श्रेणी की रचनाएँ हैं। समसामयिक उपन्यास साहित्य में इस श्रेणी की कोई भी चीज़ नहीं है। रवीन्द्र बाबू का 'घरे-बाहरे' और शरत् बाबू का 'पथेरदावी' व्यापक अर्थों में राजनैतिक उपन्यास कहे जा सकते हैं। शरत्चंद्र ने बंगाल के गाँव को चित्रण करने के लिये केवल एक उपन्यास लिखा (पल्ली समाज)। उनकी शेष सभी रचनाएँ सामाजिक हैं या मध्यवित्त बंगालियों की मनोवैज्ञानिक उलझनों से संबोधित हैं। 'प्रेमाश्रम' (१६२२) के साथ प्रेमचन्द ने हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में नया प्रवर्तन किया और इस श्रेणी का उनका अन्तिम उपन्यास 'गोदान' भारतीय गाँव का महाकाव्य है। प्रेमचन्द के इन सामाजिक राजनैतिक उपन्यासों के तीन सूत्र हैं—भारतीय गाँव, उद्योगीकरण और अहिंसात्मक सत्याग्रही राजनैतिक आन्दोलन कृषक-समाज और उनकी मुसीबतें, हिन्दू-मुसलिम समस्या, गाँव के जीवन में शहरों का प्रवेश, धार्मिक और सामाजिक अंधविश्वास, अंधकार की शक्तियाँ—यही कुछ प्रेमचंद के राजनैतिक उपन्यासों के विषय हैं। उनका पहला उपन्यास प्रेमाश्रम (१६२२) बनारस के समीपवर्ती लखनपुर ग्राम के उजड़ने और बसने की कथा है। विदेशी राजशक्ति के सारे अस्त्र—ज़मींदार, कामदार, पुलिस, शहरी अधिकारी—सब उन अत्याचारों की बड़ी-बड़ी लहरों के पोषक हैं जो जब-तब गाँव को निगलती रहती हैं। प्रेमचन्द का ग्रामीण समाज इन भयावह लहरों के प्रति एकदम निश्चेष्ट नहीं है। धरती का सच्चा पुत्र, गाँव माता का सपूत बलराज इन लहरों की चुनौती को स्वीकार

करता है—फल है ज़ालिम गौस खाँ की हत्या। इसके उपरांत निरंकुशता का जो चक्र चलता है, वह लखनपुर को पीस डालता है। लखनपुर उजाड़ होता है। चौपाले खाली। घर सुनसान। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने १००० पृष्ठों के बड़े चित्रपट में आधुनिक भारतीय जीवन के सभी अंगों को कथा का विषय बनाया। १९२१ के असहयोग आंदोलन का सबसे सफल प्रतिबिंब इस उपन्यास में दिखलाई पड़ता है। इस उपन्यास में दो मिली-जुली कहानियाँ चलती हैं, एक का नायक सूरदास है, दूसरी का विनय। विनय, जाह्नवी और सोफ़िया के चरित्र, देशी राज्यों के प्रजा-आन्दोलन इत्यादि अनेक महत्वपूर्ण तत्त्वों का समावेश इस उपन्यास में है। पांडेपुर का सूरदास सचमुच ही प्रेमचन्द की अनोखी कृति है। वह गाँव के उद्योगी-करण का विरोध करता है, उसे विश्वास है, इस उद्योगीकरण से गाँव की आत्मा का हनन हो जायगा। आलोचकों ने सूरदास और विनय में गाँधी और जवाहरलाल की झलक देखी है, परन्तु इससे कलाकार प्रेमचन्द लांछित नहीं होते। उनके चरित्र इतने हाड़-माँस के बने हैं कि ज़रा भी अलौकिक नहीं जान पड़ते। प्रेमचन्द कल्पना और कलम के बादशाह हैं। एक महान् राजनैतिक नेता और सूत्रधार की तरह उन्होंने सैकड़ों पात्रों को ज़नता के युद्ध में उतारा है और उनमें अपनी आत्मा का साहस और अपने मन के सपने भरे हैं। सामूहिक परिस्थितियों और आंदोलनगत मनुष्यों के चरित्र का इतना सूक्ष्म और सुन्दर चित्रण शरत् और रवीन्द्र बाबू में भी नहीं है। यह अवश्य है कि प्रेमचन्द को इस दिशा में रूसी उपन्यासकारों—विशेषतय: तोल्सताय—से प्रेरणा मिली। रूसी उपन्यास भी समूचे राष्ट्र की चित्रपटी लेते हैं। परन्तु प्रेमचन्द ने इस प्रेरणा को ग्रहण

कर जैसे जादू कर दिया हो। स्वयं प्रेमचन्द ने अपने अगले उपन्यासों में इतना चारित्रिक वैभिन्न्य, इतने हाड़माँस के मनुष्य, इतने कथासूत्र, इतने सुन्दर प्रसङ्ग-संगठन हमें नहीं दिये। 'कायाकल्प' ( १६२८ ) में प्रेमचन्द ने दो कहानियाँ ली हैं—मृत्य और अमृत्य को मिलाने की यह चेष्टा उपन्यास को शिथिल बना देती है। अलौकिक कथा प्रसङ्ग पर मेरी कॉरेली की रचनाओं का प्रभाव जान पड़ता है, कदाचित् संसार के उत्कृष्ट प्रेम-रोमांचकों का भी उस पर प्रभाव है। परन्तु गाँव की कथा में प्रेमचन्द अपने निजी अनुभव की दृढ़ भूमि पर खड़े हैं। १६३०—३२ के आंदोलन ने प्रेमचन्द को कर्मभूमि लिखने की प्रेरणा दी। स्वयं उनकी अपनी अन्य कृति 'रंगभूमि' से यह रचना बहुत अंशों में मिलती-जुलती है, परन्तु उसका चित्रपट इतना विशद नहीं है। अनेक अंशों पर 'रंगभूमि' के अनुकरण की छाप है, परन्तु कृति फिर भी प्रेमचन्द के ही अनुरूप है। जान पड़ता है, प्रेमचन्द के अपने जीवन की असफलताओं और दुर्बलताओं की छाप उनकी रचनाओं पर पड़ने लगी। बाद के उपन्यासों में न विठ्ठलदास ( सेवासदन ) हैं, न प्रेमशंकर ( प्रेमाश्रम ), न सूरदास-विनय ( रंगभूमि )। इनके स्थान पर हमें अनेक दुर्बल चरित्र नायक मिलते हैं जो बराबर मृगतृष्णा के पीछे दौड़ते हैं और इस प्रकार अपनी शक्तियों को नष्ट कर देते हैं। 'प्रेमाश्रम' ( १६२२ ) के ज्ञानशंकर की परम्परा ही इन नायकों में बढ़ती दिखलाई देती है। 'ग़बन' ( १६३१ ) में रामनाथ है, कर्मभूमि ( १६३२ ) में अमरकांत। कर्मभूमि की प्रधान कहानी का सम्बन्ध म्युनिसिपिलिटी के सुधार और हरिजन-समस्या से है। अंतिम उपन्यास 'गोदान' में प्रेमचंद ने दुर्बल-चरित्र नायकों को छोड़ दिया है। 'गोदान' का होरी

विनय और सूरदास की पपम्परा का अद्भुत चरित्र है। सूरदास और होरी भारतीय साहित्य के अनुपम रत्न बने रहेंगे। वे हमारे राष्ट्रीय संग्राम की प्रतिमूर्ति हैं। होरी की कहानी भारतीय किसान की युग-युग से पददलित परन्तु अत्यन्त बलवती आत्मा की अग्नि-परीक्षा की कहानी है। होरी की सरलता, नायक की चिर विजय पर उसका अदम्य विश्वास, घर और कुटुम्ब के प्रति उसका मोह, वह जो अपना मानता-जानता है उसके प्रति बलिदान की भावना, उसका ग्रामीण हास-विनोद का ढंग, उसकी व्यावहारिकता, उसकी मानवता! अभी होरी की उम्र ही क्या है—परन्तु वह चला जाता है। इसके लिए हम किसे धन्यवाद दें—युग-युग की गुलामी को या अपने चिरंतन सामाजिक रूढ़िवाद को। उसकी छोटी सी किसानी लालसा, उसके दरवाज़े के आगे एक दुधारू गाय बँध जाये, छोटी-सी यह लालसा भी पूरी नहीं हो पाती। इतने-इतने बीघे गन्ने बोने वाला यह सामान्य, प्रतिष्ठित कृषक एक छोटी-सी गाय नहीं पाल सका। जब वह चल बसा, तो उसकी पत्नी धनिया गाय क्या, बछड़ा भी गोदान के रूप में नहीं दे सकी। पाँच आने पैसे—यही 'गोदान' रहा। प्रेमचन्द का व्यंग तीखा और स्पष्ट है। परन्तु होरी की इस शहादत ने उसे अमर बना दिया। उसकी दैहिक मृत्यु के बाद भी उसका कठोर, कर्मठ व्यक्तित्व जीवित रहता है। यह व्यक्तित्व उस सब के प्रति चुनौती की तलवार बन जाता है जिसका होरी ने आयु पर्यंत विद्रोह किया और जिसके कारण उसकी सरल सी कृषक-सुलभ लालसा पूरी न हो सकी। आज के प्रश्नों के युग में 'गोदान' एक बड़ा प्रश्न चिह्न है। कला की वस्तु के नाते वह क्लासिक बन चुका है। संसार के साहित्य में उसके जोड़ की वस्तुयें अधिक नहीं हैं।

परन्तु कहानीकार प्रेमचन्द उपन्यासकार प्रेमचन्द से कहीं अधिक बड़े हैं। बड़े उपन्यासों में वह कहीं-कहीं विशृंखल हो जाते हैं, कहीं-कहीं उनके हाथ से रंग अधिक गहरा लग जाता है, कहीं-कहीं कथा-संगठन शिथिल है. कहीं-कहीं अनेक पृष्ठों तक व्यर्थ का विस्तार चलता है। फिर कहीं-कहीं वह भाषा और कवित्व के गोरख-धंधे में फँस जाते हैं। परन्तु उनकी कहानियों में ये त्रुटियाँ नहीं है। रवि ठाकुर के बाद प्रेमचन्द भारतवर्ष के सबसे बड़े कहानीकार हैं। प्रेमचन्द ने अपने एक लेख में रवि बाबू का ऋण स्वीकार किया है, परन्तु उनके विषय एकदम नये हैं। अपनी शैली को उन्होंने स्वयं विकसित किया है और उन्हीं के द्वारा हिंदी कहानी अपनी पूर्णता को प्राप्त हुई है। तीस वर्ष तक वे कहानी-उपन्यास लिखते रहे, तीस वर्ष तक हमारा राष्ट्र स्वतंत्रता और सामाजिक संतुलन के राजपथ पर बढ़ता रहा। इन तीन सौ से ऊपर कहानियों में हमारे राष्ट्रीय जीवन के पिछले तीस वर्षों का कितना इतिहास भरा पड़ा है। एक दर्जन से अधिक ग्रन्थों में ये कहानियाँ संग्रहीत हैं। इन कहानियों में हम चेखव और गोर्की, रवीन्द्रनाथ और शरत्चंद्र की कला को एक स्थान पर पा जाते हैं। प्रेमचन्द 'कला के लिए कला' सिद्धान्त के समर्थक नहीं हैं। तोल्सताय और गोर्की की तरह उनका भी एक महान लक्ष्य था। वह जन-जीवन की सभी प्रगतिशील शक्तियों को बल देना चाहते थे। उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ या तो चरित्र निरूपित करती हैं या किसानों, मजदूरों और उपेक्षितों का चित्रण करती हैं। मृत्यु के कुछ वर्ष पहले, जब वह गोदान (१९३२—१९३६) लिख रहे थे, जान पड़ता है, उनके जीवन में बराबर कटुता बढ़ती गई। न जाने कैसी पीड़ा, कैसी धिक्कार से उनका हृदय भर गया।

गाँधीवादी आदर्शवाद और सन्तोष की जड़ें हिल गईं। उनकी कला व्यंगप्रधान हो गई। उन्होंने उन सब शक्तियों को खुली चुनौती दी जो मनुष्य की आत्मा को कुंठित कर देती हैं। 'गोदान' और 'कफ़न' की कहानियों में वर्ग-संघर्ष साफ दिखलाई पड़ता है। इन बाद की रचनाओं से प्रेमचन्द की प्रगतिवादी गति-विधि स्पष्ट हो जाती है। इन कुछ कहानियों की अपनी अलग श्रेणी है और उनकी चुनौती भी स्पष्ट है। यह दुःख का विषय है कि प्रमचंद ने जिस कला का सूत्रपात अपने अंतिम दिनों में किया, उसे अनेक कलाकारों द्वारा अपनाया जाना और कला और साहित्य में एक नितान्त नये युग का प्रवर्त्तन वे न देख सके। स्वतंत्रता का प्रभात आते-आते उनकी सशक्त वाणी शून्य में विलीन हो गई। अन्तिम दिनों में उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ (लखनऊ) की पहली बैठक और दूसरे अवसरों पर जो भाषण दिये थे उनसे स्पष्ट है कि वे नए सामाजिक और राजनैतिक निर्माण के साक्षी थे। गोर्की की भाँति उनकी आवाज़ हमारे लिए बहुत भारी चीज़ थी। नई पीढ़ी के लेखकों और कवियों को उनसे क्या कुछ बल न मिला होता! उनकी कला उपेक्षित सदाशयों को शक्ति देती और उनका क़लम विभिन्न वर्गों और सम्प्रदायों को जोड़ने वाली एक महान ताक़त सिद्ध होता। समसामयिक लेखकों में प्रेमचद ही एक ऐसे लेखक थे जिन्हें हिन्दू और मुसलमान समान रूप से मानते थे और जिनकी भाषा-शैली दोनों पक्षों के लिए ग्राह्य थी।

प्रत्येक देश में महान राष्ट्रीय हलचलों के समय अनेक नेता, वक्ता, लेखक और कलाकार ऐसे जन्म लेते हैं जिनमें अनेक सम्भावनाएँ रहती हैं और जिनका राष्ट्र को गर्व होता है। महात्मा गाँधी द्वारा संचालित राष्ट्रीय संग्राम ने १९२१ के

बाद अनेक महापुरुष हमें दिये। जीवन के अनेक क्षेत्रों में इन महापुरुषों ने काम किया। जवाहरलाल, कनुभाई, प्रेमचंद, भारती, ख़बरदार, इक़बाल। और भी न जाने कितने! नये भारत के इन नेताओं में प्रेमचंद का अपना स्थान सुरक्षित है। कला और साहित्य, प्रगतिशील चिंतन और निर्माणात्मक प्रेरणा के क्षेत्र में प्रेमचंद दीपस्तम्भ की भाँति रहे। इस रूप में वे सदैव स्मरणीय रहेंगे। परन्तु वे और भी बहुत कुछ थे। वे हमारे राष्ट्रीय प्रभात के चारण थे। पिछले तीन दशकों के इतिहासकार को युग की प्रतिभा को ठीक-ठीक आँकने के लिए प्रेमचंद की कहानियों और उपन्यासों के पन्ने उलटने पड़ेंगे। इन कहानियों और उपन्यासों में सामयिक बहुत कुछ है, परन्तु चिरंतन भी कम नहीं है। देशभक्त और गाँधीवादी प्रेमचंद से कलाकार प्रेमचंद बहुत ऊँचे उठे हुए हैं—आने वाली पीढ़ियों को प्रेमचंद का यही रूप सबसे अधिक सजीव लगेगा, इसमें आज किंचित भी सन्देह नहीं है।

२४ मार्च, १६४८
इलाहाबाद

# प्रेमचन्द

हिंदी उपन्यास क्षेत्र में सबसे बड़ा नाम प्रेमचंद का ही है, परन्तु हमारे ज़माने में जिन लेखकों ने हिन्दोस्तान को ऊपर उठाया है उन में भी प्रेमचंद का महत्वपूर्ण स्थान है। बंकिमचंद्र, शरत्‌चंद्र, रवीन्द्रनाथ टाकुर, डा० मुहम्मद इकबाल और कन्हैयालाल मुंशी ने बंगाली, उर्दू और गुजराती ज़बानों में क्रांति कर दी है। अपनी-अपनी जगह में सब लेखक बड़े हैं। उन्होंने उन बड़ी-बड़ी समस्याओं पर बातें की हैं जो पिछले सौ-डेढ़-सौ वर्षों से हमारे सामने हैं। उन्होंने अपनी चारों ओर की दुनिया को नई निगाह से देखा है। परन्तु पिछले २५-३० वर्षों में जि[illegible] विदेशी ताक़त से हमने मोर्चा लिया, उसका इतिहास तो प्रेमचंद ने ह[illegible] लिखा है। गांधीयुग के महान् जनांदोलनों के इतिहासकार [illegible] ही तो हैं। सच तो यह है कि और उपन्यास लिखने वालों की तरह प्रे[illegible]चंद दिमाग उधेड़-बुन में नहीं लगे रहे। उन्होंने किसी एक या दो या [illegible] आदमि[illegible] की कहानियाँ न कहकर सारे देश की कहानी कही। पि[illegible]ले २५ वर्ष में देश ने क्या सहा, क्या किया, क्या पाया, यह न शरत्‌चंद्र में मिलेगा न रवीन्द्रनाथ में, न मुंशी में। यह तो प्रेमचंद ही देंगे।

प्रेमचंद अपनी ज़िंदगी में बराबर आगे बढ़ते रहे। मन खुला रहा आँखें खुली रहीं। क़लम आज़ाद रही। उन्होंने जीवन के सब को[illegible] झाँके। उन्होंने बग़ावत को बहुत ज्यादा आगे नहीं बढ़ाया, यह सच है लेकिन उन्होंने जो इशारे किये, वे कम इन्क़िलाबी नहीं थे। अ[illegible] ज़माने के लोगों में वह सबसे आगे बढ़े हुए इन्सान थे, इसमें श[illegible] नहीं। आज हमारे साहित्य में जिस प्रगतिशील आन्दोलन का बोलबाला है, उसके प्रवर्तक वही थे। 'गोदान', 'कफ़न' और 'कुछ विचार' इसके प्रमाण हैं।

—इन्हीं युग के सर्वश्रेष्ठ कलाकार और जनशक्ति के सबसे ब[illegible] समर्थक का आलोचनात्मक अध्ययन।

—ढाई रुपया—

**किताब महल ० प्रकाशक ० इलाहाबाद**



कवर जाब प्रिन्टर्स इलाहाबाद में छपा